श्रीहरिः

गीता-परिचय



स्वामी रामसुखदास

मुद्रक तथा प्रकाशक—मोतीलाल जालान · गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

संवत्	२००५	से	२०३२ तक	३७,२५०
संवत्	२०३८		छठा संस्करण	२०,०००
			कुल	५७,२५०

सत्तावन हजार दो सौ पचास

मूल्य एक रुपया

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

प्रथम संस्करणका निवेदन

प्रतिवर्ष ग्रीष्मकालमें स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें होनेवाले सत्संगके अवसरपर पू० स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज गीतापर प्रवचन किया करते हैं। संवत् २००३ की बात है। उस समय गीताके अभ्यासमें रुचि रखनेवाले अनेक सज्जनोंने यह प्रार्थना की कि गीताका विषय संक्षेपमें इस प्रकार लिखवा दिया जाय कि उसके मननसे तुरंत ही गीताका आभ्यन्तर विषय हृदयङ्गम हो जाय और उसे हमलोग शीघ्र मननपूर्वक याद कर सकें। इसपर स्वामीजीने यह प्रस्तुत 'गीताका विषय-दिग्दर्शन' लिखवा दिया था। किंतु छपी पुस्तक न होनेके कारण इसकी प्रति अधिक लोगोंको प्राप्त न हो सकी; इसलिये गीताभ्यासके विविध प्रकार और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय जोड़कर इसे प्रकाशित किया जा रहा है। इसके प्रायः सभी विषय श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा प्रणीत और गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-तत्त्व-विवेचनी'के अनुसार दिये गये हैं।

गीताप्रेमी सज्जनोंसे विनम्र निवेदन है कि वे इस प्रकार गीताके बाह्याभ्यन्तर सभी विषयोंका भली प्रकार मनन करते हुए अपने जीवनको गीताज्ञानके साँचेमें ढालकर गीतामय बनानेका प्रयत्न करें।

—प्रकाशक

तृतीय संस्करणका नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता सच्चिदानन्दघन सर्वलोकमहेश्वर प्रेमस्वरूप भक्तवत्सल भक्तभक्तिमान् स्वयं भगवान्‌की दिव्य वाणी है। भारतीय अध्यात्म-जगत्‌मे तो गीताका अद्वितीय स्थान है ही, अखिल भूमण्डलके विद्वानो तथा विचारकोंके हृदयोपर भी गीताका अनुपम प्रभाव है। विशेषता यह है कि गीतामें सभी परमार्थ-पथिक महानुभावो एवं लोकपथ-प्रदर्शक आचार्योंको अपने सिद्धान्तका समर्थन दृष्टिगोचर होता है। यहाँतक कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रमें काम करनेवाले भी गीतासे विशुद्ध प्रकाश प्राप्त करते हैं। ऐसी महान् विश्वकल्याणकारिणी गीताके अगाध रसज्ञान-सागरमें जितना गोता लगाया जाय, उतना ही सौभाग्य है और गोता लगानेवालोंको उतने ही अमूल्य रत्न उपलब्ध होते हैं।

हमारे श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज भी गीता-ज्ञानार्णवमे गोता लगानेवाले है और नित्य लगाते ही रहते हैं। इनको गीताने बहुमूल्य अमूल्य रत्न प्रदान किये है और अब भी ये नये-नये रत्नोंके लिये प्रयत्नशील है। इनकी विशेषता यह है कि ये सर्वजनहिताय उनका यथायोग्य परंतु मुक्तहस्तसे वितरण भी करते रहते हैं। इनकी इस सहज उदारताका प्रमाण है—प्रायः बारहो महीने प्रतिदिन अधिकारियोमें गीताके गुह्य,

गुह्यतर, गुह्यतम सिद्धान्तोका प्रकाश करना और सरल हृदयके भावुकोको मधुर गीताप्रसादका सरल भाषामे स्वाद चखाते रहना। यही इनका काम है—गीतासे लेना और गीतागायकके सेवार्थ गीताभक्तोको देते रहना।

यह 'गीता-ज्ञान-प्रवेशिका' भी श्रीस्वामीजीका सरल मधुर गीताप्रसाद है, जो गीता-शिक्षार्थियोंको गीता समझनेकी सुविधाके लिये प्रस्तुत किया गया है। इसमे बड़ी सरलताके साथ श्रीमद्भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायमे आये हुए प्रधान विषयोका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखा अर्जुनके प्रति किस अध्यायके किन श्लोकोमें किस-किस विषयपर क्या उपदेश किया है—इस पुस्तकमे इसपर तथा अन्यान्य आवश्यक उपयोगी विषयोपर संक्षेपमें पूरा प्रकाश डाला गया है। भाषा और लिखनेकी शैली ऐसी है कि जिससे गीताध्ययनका आरम्भ करनेवाले नवीन जिज्ञासुजन भी अच्छी तरह समझकर हृदयङ्गम कर सकें।

श्रीस्वामीजीके इस कल्याणकार्यसे सभी लोग यथायोग्य लाभ उठावें—यह मेरा नम्र निवेदन है।

आश्विन शुक्ल १। २०२५ वि०
(नवरात्रारम्भ)

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

चतुर्थ संस्करणका निवेदन

इस पुस्तकका तृतीय संस्करण 'गीता-ज्ञान-प्रवेशिका' के नामसे प्रकाशित किया गया था। इस चतुर्थ संस्करणमें कुछ आवश्यक संशोधन करके इसे 'गीता-परिचय' के नामसे प्रकाशित किया जा रहा है।

—प्रकाशक



विषय-सूची



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

श्रीभगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति—गीता

वक्त्राणि पञ्च जानीहि पञ्चाध्यायाननुक्रमात् ।
दशाध्याया भुजाश्चैकमुदरं द्वे पदाम्बुजे ॥
एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयी मूर्तिरीश्वरी ।
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ॥

गीताके अठारह नाम

गीता गङ्गा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या मुक्तिगेहिनी ॥
अर्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भयनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्ता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथान्ते परमं पदम् ॥



॥ श्रीहरिः ॥

गीता-परिचय

गीताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें

१—गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं, श्रोता उनके प्रिय सखा अर्जुन हैं, संकलनकर्ता महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी हैं और लेखक बुद्धिप्रदायक श्रीगणेशजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेशमें प्रमाणरूपसे बहुत-सी श्रुतियाँ कही थीं, उनको तथा जो उन्होंने गद्यमें कहा था उसे भी श्रीव्यासजीने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया तथा अर्जुन, सञ्जय और धृतराष्ट्रके वचनोंको भी अपनी भाषामें श्लोकबद्ध कर लिया। वही श्रीकृष्णार्जुनसंवादके रूपमें अठारह अध्यायोंमें विभक्त सात सौ श्लोकोंका यह ग्रन्थरत्न—श्रीमद्भगवद्गीता है।

२—गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई दिव्य वाणी है। जिस प्रकार प्रमुख स्मृतियाँ अठारह ही हैं,

पुराण भी अठारह ही हैं, भागवतके श्लोक भी अठारह हजार ही हैं, महाभारतके अठारह ही पर्व हैं, कौरव-पाण्डवोंकी सेना भी अठारह अक्षौहिणी ही थी, युद्ध भी अठारह दिन ही हुआ, वैसे ही गीतामें अठारह अध्याय हैं।

यदि कहें कि 'गीतामें श्रीभगवान्‌का उपदेश तो दूसरे अध्याय से प्रारम्भ हुआ है, तब प्रथम अध्यायको गीतामें क्यों शामिल किया गया ?' तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम अध्यायमें भी श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

'उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥
(१। २५ का उत्तरार्ध)

ये वचन नहीं होते तो गीताका उपदेश ही नहीं होता। गीतोपदेशके होनेमें भगवान्‌की अतिशय कृपा संनिहित है। अन्यथा अर्जुनने तो रथ खड़ा करनेको कहा था, भगवान् बीचमें कहीं भी रथको खड़ा कर देते तो गीता प्रारम्भ ही नहीं होती। किंतु भगवान्‌ने रथको खड़ा भी किया पितामह भीष्म और द्रोणाचार्यके सम्मुख। तथा अर्जुनसे कहा—'इन कौरवोंको देख।' श्रीभगवान् यदि उक्त श्लोकमें 'कुरून्' न कहकर 'उवाच पार्थ पश्यैतान् धार्तराष्ट्रान् समानिति' इस प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखनेको कहते तो भी अर्जुनको शोक नहीं होता और गीताका उपदेश आरम्भ नहीं होता; क्योंकि युद्धके इच्छुक धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे तो युद्ध करनेको वह तैयार था ही।

दूसरी बात यह है कि प्रथम अध्यायमें इक्कीसवेंसे चौवालीसवें-तक अर्जुनका जो कथन है, उसका श्रीभगवान्ने दूसरे अध्यायके इकतीसवेंसे छत्तीसवेंतक समाधान किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि पहले अध्यायका गीतासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। महाभारतके भीष्मपर्वमें पचीसवें अध्यायसे ही भगवद्गीता प्रारम्भ होती है जो कि भगवद्गीताका पहला अध्याय है।

३—गीता कुरुक्षेत्रमें महाभारत-युद्धारम्भके समय कही गयी। व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव और पाण्डव—दोनो दलोके समक्ष अर्जुनकी इच्छाके अनुसार उसके सारथि बने हुए परम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यह उपदेश सुनाया था।

यदि कहे कि 'जब युद्धकी तैयारी थी ऐसे अल्प समयमें गीताका सुनाया जाना सम्भव नहीं था, अनुमानतः भगवान्ने थोड़ी-सी बातें कही थीं जिनका श्रीव्यासजीने विस्तार कर दिया होगा।' तो इसका उत्तर यह है कि तबतक युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ था, गीता सुनानेके बाद ही युद्ध आरम्भ हुआ है; क्योंकि महाभारत भीष्मपर्वके पचीसवेंसे बयालीसवें अध्यायतक गीता है, इसके बाद तैतालीसवें अध्यायमें श्रीयुधिष्ठिरने पितामह भीष्म आदिके पास जाकर उनको नमस्कार करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा मॉगी है एवं आज्ञा मिलनेपर यह घोषणा की है कि कोई वीर हमारे पक्षमें आना चाहे तो आ सकता है। यह सुनकर युयुत्सु डंका पीटता हुआ पाण्डवोके पक्षमें आया भी है (महाभारत भीष्म० ४३। ९४—१००)। इसके बाद युद्ध आरम्भ हुआ है। इसलिये वहॉ गीता सुनानेमें समय अल्प नहीं था, पर्याप्त था।

४—कुछ लोग कहते हैं—'भगवान् गीता न सुनाते तो युद्ध नहीं होता और युद्ध न होनेसे भारतवर्षका इतना पतन नहीं होता; क्योंकि उसमें अनेक कला-कौशलके ज्ञाता विद्वान् मारे गये और उनकी मृत्युसे भारतकी बड़ी भारी हानि हुई। भगवान्ने अर्जुनसे युद्ध करानेके लिये ही गीता सुनायी थी।' किंतु ऐसी बात नहीं है। गीता युद्ध करानेके लिये नहीं सुनायी गयी। पहले अध्यायके बीसवें-इक्कीसवे श्लोकोंमें वर्णन है कि युद्धमें तो अर्जुनकी स्वतः प्रवृत्ति हो रही थी; किंतु बीचमें अर्जुन शोक-मोहसे अभिभूत होनेके कारण कर्तव्यच्युत हो रहा था। अतः उसे भगवान्ने गीताके द्वारा समझाकर कर्तव्यपरायण किया है न कि युद्ध कराया है।

तथा यदि अर्जुन युद्ध नहीं करता तो भीमसेन तो युद्ध किये बिना कभी नहीं रहता; क्योंकि उसका यह प्रण था—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

(वेणीसंहार नाटक १। १५)

महाभारतमें भीमसेनके वचन हैं—

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः।
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले॥

(महा० उद्योग० ७६। ११-१२)

एवं युधिष्ठिर भी युद्ध किये बिना नहीं रहते, क्योंकि जिन्होंने माता कुन्तीकी आज्ञासे द्रौपदीके साथ पाँचो पाण्डवोंका विवाह करना

स्वीकार कर लिया, वे युधिष्ठिर माता कुन्तीकी युद्ध करनेकी आज्ञा हो जानेपर युद्धसे कभी भी विमुख कैसे हो सकते थे।

यदि अर्जुन युद्धभीरु होता तब तो उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये भगवान्‌का कथन उचित होता; किंतु अर्जुन युद्धभीरु नहीं था बल्कि धर्मभीरु था। मानो वह इस बातसे भयभीत था कि मेरे द्वारा कहीं अधर्म न हो जाय, जिससे मेरी वास्तविक पारमार्थिक हानि हो जाय। इसलिये भगवान्‌ने युद्ध करानेके लिये ही अर्जुनको गीता सुनायी—ऐसा मानना उचित नहीं है।

५—कई लोग कहते हैं कि गीतामें केवल कर्मयोगका ही वर्णन है। युद्धभीरु अर्जुनको युद्धरूप कर्ममें लगानेके लिये ही गीता सुनायी गयी थी। अतः गीता कर्मप्रधान है, ज्ञान और भक्तिके वर्णन तो उसमें प्रसङ्गोपात्त हैं। किंतु यह बात नहीं है। अर्जुन अपना वास्तविक निश्चित श्रेय (कल्याण) चाहता था। उसने स्वयं कहा है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

(गीता २। ७ का तीसरा चरण)

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।

(गीता ३। २ का उत्तरार्ध)

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।

(गीता ५। १ का उत्तरार्ध)

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने श्रेय (कल्याण) करनेवाले जो-जो साधन हो सकते हैं, उन सबको गीतामें कहा है। इसलिये गीता

केवल कर्मयोगप्रधान नहीं है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—तीनो ही दृष्टियोसे किस प्रकार कर्म किये जायँ—यह बताते हुए कर्म करनेपर जोर जरूर है, पर केवल कर्मयोगपर नहीं, क्योकि गीतामें परमात्माके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूप तथा ध्यानयोग, प्राणायाम आदि बहुत-से विषय आये है। यदि केवल युद्ध कराना ही अभिप्रेत होता तो प्राणायाम आदिके कथनकी आवश्यकता नहीं थी। इन सबका कथन होनेसे यह सिद्ध होता है कि गीतामें केवल कर्मयोगका वर्णन ही नहीं है, अन्य साधनोका भी वर्णन है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।

(गीता ४ । ३२ का पूर्वार्ध)

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३ । ४)

तथा गीतामें एकान्तमें करनेके और कार्यकालमें करनेके दोनो तरहके साधन बताये गये है। जैसे—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

(गीता ६ । १०)

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।

(गीता १३ । १० का पूर्वार्ध)

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

(गीता १८ । ५२ का पूर्वार्ध)

ये एकान्तके साधन हैं। यदि केवल युद्ध कराना ही अभीष्ट होता तो एकान्तके साधन बतानेकी आवश्यकता नहीं थी। अतएव भगवान्‌का न तो युद्धमें लगानेमें तात्पर्य है, न कर्म करानेमें ही। तात्पर्य है जीवमात्रके कल्याणमें। उसीके लिये अनेक साधन बतलाये हैं। अतः गीता हर एक परिस्थितिमें अपना कल्याण करनेकी अद्भुत कला सिखलाती है।

६—यदि कहें कि 'भगवान् तो प्रायः हरदम ही अर्जुनके साथ रहते थे। गीतामें अर्जुन कहते हैं—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

(११।४२)

भागवतमें भी कहा है—

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥

(१।१५।१९)

प्रायः सदा साथ रहनेवालेको किसी समय भी उपदेश नहीं किया। अब युद्धका समय ही कौन-सा एकान्त समय था कि गीताका उपदेश उस समय किया!' तो इसका उत्तर यह है कि पहले अर्जुन इस प्रकार घबराकर कभी भगवान्‌के उन्मुख नहीं हुआ था तथा इस प्रकार शरण होकर कल्याणकी जिज्ञासा नहीं

की थी। उपदेश तभी दिया जाता है और तभी सार्थक होता है जब श्रोता पात्र होकर उपदेशके लिये उन्मुख हो जाता है।

७—गीता-ग्रन्थकी रचना विक्रम संवत्से करीब तीन हजार वर्ष पूर्वकी मानी जाती है।

८—गीता मार्गशीर्षशुक्ला एकादशीको कही गयी; इसलिये इसी दिन 'गीता-जयन्ती' का उत्सव मनाया जाता है।

९—गीता साक्षात् भगवान्का हृदय है। स्वयं भगवान्ने कहा है—'गीता मे हृदयं पार्थ।'

१०—गीता एक सार्वभौम धर्म-ग्रन्थ है। सभी धर्म, सम्प्रदाय और मत-मतान्तरके लोग इसका आदर करते हैं, क्योंकि इसमें किसीके धर्मका खण्डन नहीं है। इसलिये प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदायोंकी इसपर टीकाएँ मिलती हैं।

११—गीता सर्वशास्त्रमयी है। यही एक छोटा-सा ऐसा ग्रन्थरत्न है जिसमें संक्षेपतः धर्म, कर्म, भक्ति और ज्ञान-विज्ञानका तत्त्व-सार पूर्णतया संनिहित है। गीता अपने-अपने वर्ण, आश्रम तथा धर्मको कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे उसका अनुष्ठान करनेपर उसीके द्वारा भगवत्प्राप्ति बतलाती है और उसमें परिवर्तनकी जरूरत नहीं मानती, किंतु परिमार्जनकी जरूरत मानती है।

१२—वैदिक धर्मावलम्बी भारतवासियोंके आत्मोद्धारके लिये प्रस्थानत्रय कल्याणके राजपथ माने जाते हैं। इन तीनोंपर श्रीशंकर, श्रीरामानुज, श्रीवल्लभ, श्रीमध्व और श्रीनिम्बार्कने टीकाएँ लिखी हैं, इसीसे आस्तिक लोग उनका आचार्यत्व मानकर उन्हें

आदर देते हैं। ये तीन प्रस्थान हैं—१. वैदिक प्रस्थान, जो दस उपनिषदोंके रूपमें प्रसिद्ध है, २. दार्शनिक प्रस्थान—ब्रह्मसूत्र है, ३. स्मार्त प्रस्थान—भगवद्गीता है, जो कि कौरव-पाण्डवोंके सच्चे इतिहास-ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत है। यह श्लोकोंके रूपमें है और श्रीभगवान्‌की वाणी होनेके कारण वेद-ऋचाओंके समान मन्त्ररूप है। सरल होनेपर भी आशय गम्भीर होनेसे यह सूत्ररूपसे है, परंतु भगवान्‌ने कृपा करके इसे इतिहासमें कहा है, इसलिये इसके अधिकारी स्त्री-शूद्र आदि सभी हो सकते हैं। वेदोंके अधिकारी सभी नहीं होते। दर्शनोंके अधिकारी भी पण्डित विद्वान् ही हो सकते हैं। किंतु इसके सभी मनुष्य अधिकारी हो सकते हैं। इस प्रकार गीता वेदों और दर्शनोंके समान है।

१३—सारे शास्त्र वेदोंके सिद्धान्तको लेकर ही बने हैं। वेद भगवान्‌के निःश्वास हैं—'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। श्वास अप्रयत्न-सिद्ध होता है। इसी प्रकार गीतामें भगवान्‌ने अपने ऐकान्तिक प्रिय मित्र और भक्त अर्जुनको अपने हृदयकी रहस्यमयी गुप्त बातें खोल-खोलकर बतायी हैं और कहा है कि ये हर एक व्यक्तिको बतलानेकी नहीं हैं। इसलिये इसे वेदोंसे भी बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

१४—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्‌ने गीतामें आत्म-श्लाघा—अपनी बड़ाई की है। परंतु यह बात सर्वथा गलत है। जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने अपनी भगवत्ता प्रकट की है, वहाँ-वहाँ उन्होंने रहस्य (४।३), गुह्यतर (१८।६३), गुह्यतम (९।१,

१५ । २०), सर्वगुह्यतम (१८ । ६४) आदि शब्दोंसे उस विषयको अत्यन्त गोपनीय और किसीको न सुनानेके लिये कहा है । तथा अर्जुनको अनघ, अनसूयु बतलाकर 'कुरुष्व' (९ । २७), 'भजस्व' (९ । ३३) आदि—यों आत्मनेपदका प्रयोग करते हुए आज्ञा दी है । जहाँ उभयपदी धातुमें आत्मनेपद होता है वहाँ क्रियाका फल कर्ताको मिलता है— 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् ।' जब सर्वसमर्पणका फल समर्पकको ही मिलता है तब वह अपनी प्रशंसा कहाँ रही ? भगवान्ने तो अर्जुनके कल्याणके लिये ही यह कहा है कि तू ऐसा करेगा तो तेरा भला होगा । वह भी इसलिये कहा कि अर्जुन अनघ (३ । ३; १४ । ६; १५ । २०)और अनसूयु (९ । १) था । यदि कोई पापी और दोषदृष्टिवाला इसे सुनता है तो उसका अन्तःकरण मलिन होनेके कारण उसपर असर अच्छा नहीं पड़ता । अघ—पापोंके कारण और असूया दोष—अशुद्ध अन्तःकरणके कारण ही ऐसी शङ्का हुआ करती है । अतः अपना भला चाहनेवाले मनुष्यको श्रीभगवान्के वचनोंमें आत्मश्लाघा नहीं माननी चाहिये ।

१५—'गीता सुगीता कर्तव्या'—परम पुरुषोत्तम, देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निस्सृत समस्त उपनिषत्साररूप अद्वितीय शास्त्र—श्रीमद्भगवद्गीताको सुगीता करना चाहिये—उसका भलीभाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसके भावोंको हृदयङ्गम करके अपने जीवनमें उतारना चाहिये ।

१६—गीताशास्त्र एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसका प्रचारक भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके उनहत्तरवें श्लोकमें स्वय कहा है—उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढकर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

१७—गीताका खास प्रतिपाद्य विषय है—भगवान्‌की शरणागति। अर्जुनके भगवत्-शरणागत होनेसे ही गीतोपदेश आरम्भ हुआ है। शरणागतिकी पूर्णताके विषयमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

अर्जुनने उत्तरमें 'करिष्ये वचनं तव (१८। ७३) कहकर उसे स्वीकार किया, तब गीताका उपदेश समाप्त हुआ।

१८—कुछ लोगोंकी धारणा है कि गीता केवल संन्यासियोंके लिये ही है और गीता पढनेवाला सन्यासी हो जाता है। अतः वे बालकोंको गीता पढानेमें डरते भी हैं, परंतु यह बात नहीं है; क्योंकि गीता-वक्ता और गीता-श्रोता दोनों गृहस्थ-आश्रममें ही थे और गृहस्थ-आश्रममें ही रहे। जब गीता सुननेके बाद भी अर्जुनने घोररूप दीखनेवाला युद्ध-जैसा कर्म ही किया, तब उसका आशय संन्यास—सर्वथा कर्मत्यागमें कैसे हो सकता है? प्रत्युत गीता तो किंकर्तव्यविमूढ मनुष्यकी विमूढता मिटाकर उसके लिये कर्तव्यरूप उचित पथका प्रदर्शन करनेवाली है।

संस्कृत भाषाका शुद्ध उच्चारण करनेकी विधि

शब्दका जैसा रूप है, उसको बीचमेंसे तोड़कर न पढ़े एवं लघु और गुरुका, विसर्गों और अनुस्वारोंका तथा श, ष, स का लक्ष्य रखकर पढ़े तो संस्कृत भाषाका उच्चारण शुद्ध हो जाता है।

१—उच्चारणमें इ, उ, ऋ—इन तीन अक्षरोंके लघु और गुरुका ध्यान विशेष रखना चाहिये। क्योंकि अ और आ का उच्चारण-भेद तो स्पष्ट स्वतः ही हो जाता है और ऌ का उच्चारण बहुत कम आता है तथा वह दीर्घ होता ही नहीं। ऐसे ही ए, ऐ, ओ, औ—ये अक्षर लघु होते ही नहीं।

२—संयोगके आदिका, विसर्गोंके आदिका स्वर गुरु हो जाता है; क्योंकि संयोगका उच्चारण करनेसे पिछले स्वरपर जोर लगेगा ही तथा विसर्ग जो कि आधे 'ह' की तरह बोले जाते हैं उनके उच्चारणसे भी स्वरपर जोर लगता ही है। जिससे पीछेवाला स्वर गुरु हो जाता है। व्यञ्जनोंका उच्चारण बिना स्वरके सुखपूर्वक होता नहीं और व्यञ्जनके आगे दूसरा व्यञ्जन आ जानेसे पीछेवाले स्वरके अधीन ही

उसका उच्चारण रहेगा; इसलिये पीछेवाला स्वर गुरु होता है।

३—अनुस्वार और विसर्ग किसी-न-किसी स्वरके ही आश्रित होते हैं; स्वरके बाद उच्चारित होनेसे ही उनकी अनुस्वार और विसर्ग संज्ञा होती है। अतः इनका उच्चारण करनेसे स्वाभाविक ही पिछला स्वर गुरु हो जाता है। यहाँ अनुस्वारके विषयमें यह ध्यान देनेकी बात है कि उसका उच्चारण आगेवाले व्यञ्जनके अनुरूप होता है अर्थात् आगेका व्यञ्जन जिस वर्गका होगा, उस वर्गके पञ्चम अक्षरके अनुसार अनुस्वारका उच्चारण होगा। जैसे क, ख, ग, घ, ङ परे होनेपर अनुस्वारका उच्चारण 'ङ्' की तरह, च, छ, ज, झ, ञ परे होनेपर 'ञ्' की तरह, ट, ठ, ड, ढ, ण परे होनेपर 'ण्' की तरह, त, थ, द, ध, न परे होनेपर 'न्' की तरह, प, फ, ब, भ, म परे होनेपर 'म्' की तरह करना चाहिये। यह नियम केवल इन पचीस अक्षरोंके लिये ही है। य, र, ल, व, श, ष, स, ह— ये आठ अक्षर परे होनेपर शुद्ध अनुस्वारका ही उच्चारण करना चाहिये जो कि केवल नासिकासे होता है।

४—श, ष, स—इन तीनोका उच्चारण-भेद समझते हुए इनको निम्नलिखित रीतिसे पढ़ना चाहिये। मूर्धासे ऊँचे तालुमें जीभ लगाकर 'श' का उच्चारण करनेसे तालव्य शकारका ठीक उच्चारण होगा तथा उससे दाँतोंकी तरफ थोड़ा नीचे लगाकर 'ष' का उच्चारण करनेसे मूर्धन्य षकारका ठीक उच्चारण होगा एवं दोनो दाँतोंको मिलाकर 'स' का उच्चारण करनेसे स्वाभाविक ही जीभ दाँतोंके लगेगी, तब दन्त्य सकारका ठीक उच्चारण होगा।



गीताके प्रधान और संक्षिप्त विषय

प्रथम अध्याय

अर्जुनविषादयोग

पहला अध्याय गीताकी उत्थानिका है। जब धृतराष्ट्रने सञ्जयसे भीष्मके शरशय्यापर सोनेतककी दस दिनके युद्धकी बात संक्षेपसे सुनी (महा० भीष्म० १३), तब युद्धकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनानेके लिये सञ्जयसे कहा। इसपर सञ्जयने दोनों ओरकी सेनाओंकी व्यूहरचना आदिका विस्तृत वर्णन किया। तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने उसे क्रमशः विशेष विस्तारपूर्वक जाननेके लिये प्रश्न किया है। यहींसे गीताका आरम्भ है। महाभारतके भीष्मपर्वका पचासवाँ अध्याय ही गीताका पहला अध्याय है। इसमें अर्जुनके विषादका वर्णन है। विषाद भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला होनेके कारण कल्याणकी ओर अग्रसर करनेवाला हो गया। यद्यपि दुर्योधनादिको भी विषाद हुआ है पर उनमें भगवद्विमुखता होनेके कारण उनका विषाद 'योग' नहीं हुआ, केवल अर्जुनका विषाद ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोडनेवाला होनेके कारण 'योग' हुआ। इसलिये इस अध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें सैंतालीस श्लोक हैं। चार प्रकरण है। पहला प्रकरण पहलेसे ग्यारहवेंतक ग्यारह श्लोकोंका है जिसमें दोनों

सेनाओंके प्रधान-प्रधान शूरवीरोंकी गणना और सामर्थ्यका कथन है। दूसरा, बारहवेंसे उन्नीसवेंतक आठ श्लोकोंका है जिसमें दोनो सेनाओंकी शङ्खध्वनिका कथन है। तीसरा, बीसवेंसे साढे सत्ताईसवें-तक साढ़े आठ श्लोकोंका है जिसमें अर्जुनद्वारा सेनानिरीक्षणका प्रसङ्ग है। और चौथा, अट्ठाईसवेंके उत्तरार्धसे सैंतालीसवेंतक साढ़े उन्नीस श्लोकोंका है जिसमें मोहसे व्याप्त हुए अर्जुनके कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन हैं।

पहले श्लोकमें युद्धविषयक प्रश्न, दूसरेमें दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास जाना, तीसरेमें उसके द्वारा पाण्डव-सेना देखनेकी प्रार्थना, चौथेमें तीन, पाँचवेंमें छः और छठेमें आठ—इस प्रकार तीन श्लोकोमें पाण्डवसेनाके सत्रह महारथियोंके नाम और उनकी प्रशंसा, सातवेंमें अपनी सेनाके प्रधान शूरवीरोको जाननेके लिये कहकर आठवें-नवेंमें अपने सात महारथियोको तथा अन्य महारथियोकी भी प्रशंसा एवं दसवेंमें अपनी सेना ही अजेय है, यह निष्कर्ष बतलाकर ग्यारहवेंमें सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करने-के लिये कथन है।

बारहवे-तेरहवेंमें भीष्मद्वारा शङ्खवादन तथा कौरवोंकी सेनाके बाजोंका बजना, चौदहवें-पन्द्रहवेंमें तीन, सोलहवेंमें तीन, सत्रहवे-मे पाँच, अठारहवेंमें सात—इस प्रकार पाँच श्लोकोमें पाण्डवसेनाके अठारह महारथियोके द्वारा शङ्खवादन और उन्नीसवेमे शङ्खोंकी ध्वनिका प्रभाव बतलाया है।

बीसवेंसे तेईसवेंतक युद्धाभिलाषी योद्धाओंके दर्शनार्थ दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा करनेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, चौबीसवें-पचीसवेंमे उसी प्रकार भीष्म-द्रोणादिके सामने रथ खड़ा करके योद्धाओंको देखनेके लिये भगवान्‌का कहना, छब्बीसवेंसे साढ़े सत्ताईसवेंतक अर्जुनका कौरवसेनामें अपने सम्बन्धियोंको देखकर विषाद करते हुए बोलनेका वर्णन है।

अट्ठाईसवेंके उत्तरार्धसहित उन्तीसवें-तीसवेंमे अर्जुनने अपने मोहजनित सात विकारोंका वर्णन किया है। इकतीसवेंमें अशुभ शकुन और स्वजनोंके नाशसे परिणाममें हानि बतलाकर बत्तीसवें-तैतीसवेंमें राज्य, भोग और सुखके लोभसे युद्ध न करनेका औचित्य सिद्ध किया है। चौंतीसवेंमे सम्बन्धियोंका उल्लेख करके पैंतीसवें-छत्तीसवेंमें बड़े-से-बड़े स्वार्थके लिये या अपना अपकार करनेपर भी उनको न मारना उचित बतलाया है। सैंतीसवेंमें कुटुम्बियोंको न मारनेमें दी हुई युक्तियोंका उपसंहार करके अड़तीसवेंमें कौरवोंको लोभके कारण मोहित बतलाया है और उन्तालीसवेंमें अपनी महत्ता द्योतन करते हुए वर्तमान युद्धको पापमय बतलाकर उससे निवृत्त होनेका औचित्य सिद्ध किया है। चालीसवेंसे चौवालीसवेंतक कुलक्षयकृत सात दोषोंकी परम्परासे नरककी प्राप्तिका वर्णन करके पैंतालीसवेंमें पश्चात्ताप करते हुए छियालीसवेंमें बिना प्रतीकारके कौरवोंद्वारा अपने मारे जानेमें भी श्रेय बतलाया है एवं सैंतालीसवेंमे सञ्जयने शोकनिमग्न अर्जुनके युद्धसे उपरत होनेकी बात कहते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

द्वितीय अध्याय

सांख्ययोग

पहले अध्यायमें वर्णित अर्जुनके विषादको निवृत्त करनेके लिये भगवान्ने दूसरे अध्यायमें सांख्ययोग और कर्मयोगका वर्णन किया है; परंतु उपदेशका आरम्भ सांख्ययोगसे ही होनेके कारण अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' ही रक्खा गया है।

इस अध्यायमे बहत्तर श्लोक हैं। पाँच प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे दसवेंतक दस श्लोकोंका है जिसमें अर्जुनकी कायरताके विषयमें श्रीकृष्णार्जुनका संवाद है। दूसरा, ग्यारहवेंसे तीसवेंतक बीस श्लोकोंका है जिसमें सांख्ययोगका विषय है। तीसरा, इकतीसवेंसे अड़तीसवेंतक आठ श्लोकोंका है जिसमें क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकताका निरूपण है। चौथा, उन्चालीसवेंसे तिरपनवेंतक पन्द्रह श्लोकोंका है जिसमें कर्मयोगका विषय है। और पाँचवाँ, चौवनवेंसे बहत्तरवेंतक उन्नीस श्लोकोंका है जिसमें स्थिरबुद्धि पुरुषके लक्षण और उसकी महिमा है।

पहले श्लोकमें अर्जुनके विषादका अनुवाद, दूसरे-तीसरेमें भगवान्का उस शोककी निन्दा करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करना, चौथे-पाँचवेंमे अर्जुनका भीष्मादिको मारना अनुचित कहकर भिक्षान्नसे निर्वाह करनेको श्रेष्ठ बतलाना, छठेमें अपना कर्तव्य निश्चय न कर सकनेकी बात कहकर सातवेंमें भगवान्के शरण होकर कर्तव्य पूछना, आठवें-नवेंमें बड़े-से-बड़े

सांसारिक भोगोंद्वारा भी शोककी निवृत्ति न देखकर युद्ध न करनेका निश्चय प्रकट करके चुप होना तथा दसवेंमें अर्जुनकी बातपर भगवान्‌के मुस्कराने और उपदेश आरम्भ करनेका कथन है।

ग्यारहवेंमें शोक करनेको अनुचित सिद्ध किया है। बारहवें-तेरहवेंमें आत्माकी नित्यताका वर्णन करके शोकका अनौचित्य बतलाया है। चौदहवें-पंद्रहवेंमें इन्द्रियोंके विषयोंकी अनित्यता बतलाकर शोकका अनौचित्य सिद्ध किया है। सोलहवेंमें सत्-असत् पदार्थोंके निर्णयकी रीति बतलाकर और सत्रहवें-अठारहवेंमें उन दोनोंका विवेचन करके युद्धके लिये आज्ञा दी है। उन्नीसवेंमें आत्माके अकर्तृत्व और अविनाशित्वकी, बीसवेंमें आत्माके निर्विकारित्वकी और इक्कीसवेंमें अकर्तृत्वकी व्याख्या है। बाईसवेंमें वस्त्रके दृष्टान्तसे आत्माकी निर्विकारिताका कथन, तेईसवेंसे पचीसवेंतक आत्माकी नित्यताका विशेष विवेचन करके शोकको अनुचित बतलाया है। छब्बीसवें-सत्ताईसवेंमें दूसरोंके सिद्धान्तोंसे भी आत्माके लिये शोक करनेको अनुचित सिद्ध करके अट्ठाईसवेंमें शरीरोंकी अनित्यता, उन्तीसवेंमें आत्मस्वरूपको जानने, कहने तथा सुननेवालोंकी दुर्लभता और तीसवेंमें आत्माकी नित्यताका निरूपण करते हुए शोक करनेको अनुचित बतलाया है।

इकतीसवें-बत्तीसवेंमें स्वधर्मरूप युद्धसे हटना अनुचित बतलाकर उसे करनेकी श्रेष्ठता, तैंतीसवेंसे छत्तीसवेंतक युद्ध न करनेसे होनेवाली हानियाँ और सैंतीसवें-अड़तीसवेंमें युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ बतलाकर युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी है।

उन्चालीसवेंसे इकतालीसवेंतक कर्मयोगविषयक समबुद्धिको सुननेके लिये कहकर उसकी चार प्रकारकी महिमाका वर्णन है। बयालीसवेंसे चौवालीसवेंतक सकामी मनुष्योंके स्वभावका वर्णन और उनके अन्तःकरणमें समबुद्धि न होनेका कथन तथा पैंतालीसवेंमें अर्जुनको निष्काम होनेके लिये कहकर छियालीसवेंमें सिद्ध पुरुषके पूर्ण निष्कामभावका चित्रण किया है। सैंतालीसवें-अड़तालीसवेंमें कर्मयोगकी विधि बतलाते हुए उसे करनेके लिये कहना, उन्चासवेंसे इक्यावनवेंतक कर्मयोगकी विशेष प्रशंसा, बावनवें-तिरपनवेंमें अर्जुनको बुद्धि शुद्ध होनेपर वैराग्य प्राप्त होने और बुद्धि निश्चल होनेपर योग प्राप्त होनेकी बात कही है।

चौवनवेंमें अर्जुनके स्थितप्रज्ञके सम्बन्धमें लक्षण, भाषण आसन और गमनविषयक चार प्रश्न हैं। पचपनवेंमे भगवान्‌ने स्थिर-बुद्धि पुरुषके लक्षणविषयक, छप्पनवें-सत्तावनवेंमें भाषण-विषयक, अट्ठावनवेंसे तिरसठवेंतक छः श्लोकोंमें आसनविषयक और चौसठवेंसे इकहत्तरवेंतक आठ श्लोकोंमें गमनविषयक प्रश्नका उत्तर दिया है। वहाँ पचपनवेंमे कामनाका त्याग और आत्मामें स्थितिरूप 'लक्षण'का और छप्पनवें-सत्तावनवेंमे उद्वेग, स्पृहा, राग, भय, क्रोध, अभिनन्दन और हर्षका अभाव बतलाकर—'किं प्रभाषेत'का उत्तर दिया है। अट्ठावनवेंमें कछुएके दृष्टान्तसे स्थितप्रज्ञता, उन्सठवेंमे रागकी निवृत्ति, साठवेंमें राग रहनेसे हानि, इकसठवेंमे इन्द्रियोंका निग्रह, बासठवें-तिरसठवेंमें राग रहनेसे विषयोंका सेवन न करनेपर भी क्रमशः पतनकी छः सीढ़ियाँ बतलाकर 'किमासीत'का उत्तर दिया है।

चौंसठवें-पैंसठवेंमें राग-द्वेषरहित होनेसे विषयोंका सेवन करनेपर भी सम्पूर्ण दुःखोंकी हानि और बुद्धिका स्थिर होना बतलाया है। छाछठवें-सड़सठवेंमें असंयत विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाया है। अड़सठवें-उनहत्तरवेंमें इन्द्रियसंयमीकी प्रशंसा और दिन-रातकी भाँति ज्ञानी-अज्ञानीके लक्षण बतलाकर सत्तरवेंमें समुद्रकी उपमासे निष्कामीकी प्रशंसा, इकहत्तरवेंमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंकारसे रहित होकर विचरनेकी महिमा कहते हुए 'किं व्रजेत' का उत्तर दिया है। एवं बहत्तरवेंमें ब्राह्मी-स्थितिकी महिमा बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

तृतीय अध्याय

कर्मयोग

(१) दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय। (२।४९)

(२) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (२।५०)

(३) निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (२।४५)

(४) मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि। (२।४७)

(५) योगस्थः कुरु कर्माणि। (२।४८)

(६) तस्माद्योगाय युज्यस्व। (२।५०)

—इनमेंसे पहले तीन श्लोकोंमें बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्मको निकृष्ट बतलाया और पीछेके तीन श्लोकोंमें कर्म करनेकी आज्ञा दी।

इसमें ज्ञानकी अपेक्षा कर्ममात्रको निकृष्ट समझनेकी गुंजाइश होनेके कारण परस्पर विरोध-सा प्रतीत हो सकता है, अतः इस प्रतीतिके निराकरणपूर्वक कर्मयोगका विस्तृत विवेचन करनेके लिये तीसरा अध्याय कहा गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें तैंतालीस श्लोक हैं। पाँच प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे आठवेंतक आठ श्लोकोंका है जिसमें ज्ञानयोग और कर्मयोगके अनुसार अनासक्त-भावसे नियत कर्म करनेकी श्रेष्ठताका निरूपण है। दूसरा, नवेंसे उन्नीसवेंतक ग्यारह श्लोकोंका है जिसमें यज्ञादि कर्म करनेकी आवश्यकताका निरूपण है। तीसरा, बीसवेंसे उन्तीसवेंतक दस श्लोकोंका है जिसमें ज्ञानवान् और भगवान्‌के लिये भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी आवश्यकताका निरूपण है। चौथा, तीसवेंसे पैंतीसवेंतक छः श्लोकोंका है जिसमें राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करनेके लिये प्रेरणा है। और पाँचवाँ, छत्तीसवेंसे तैंतालीसवेंतक आठ श्लोकोंका है जिसमें कामके निरोधका विषय है।

पहले-दूसरे श्लोकोंमें अर्जुनने भगवान्‌के वचनोंमें शङ्का करके उसके उत्तरके लिये प्रार्थना की है। तीसरेमें भगवान्‌ने अर्जुनको प्रतीत होनेवाले व्यामिश्र वचनोंके उत्तरमें दो निष्ठाका अनुवाद करके उसके बाद कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करनेके लिये चौथेमें बिना कर्मोंके कर्मयोगकी और केवल कर्मत्यागसे ज्ञानयोगकी सिद्धि न मिलनेकी बात कही है। पाँचवेंमें कर्मोंका

सर्वथा त्याग अशक्य बतलाया है। छठेमें ऊपरसे कर्मोके त्यागको मिथ्याचार और सातवेंमें मनसे इन्द्रियोको वशमें करके निष्काम-भावसे कर्म करनेको श्रेष्ठ बतलाया है। आठवेंमें बिना कर्मके शरीरनिर्वाह न होनेकी बात कहकर तथा कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करनेको श्रेष्ठ बतलाकर नियत कर्म करनेकी आज्ञा दी है।

नवेंमे यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्मोंसे अन्य कर्मोको बन्धन-कारक बतलाकर, दसवें-ग्यारहवेंमे प्रजापतिकी आज्ञाका प्रमाण देकर कर्मोकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध की है। बारहवेंमे देवोको दिये बिना भोग भोगनेवालेको चोर बतलाया है। तेरहवेंमे यज्ञ-शेष प्रसाद पानेवालेके लिये सब पापोसे छूटनेकी बात कहकर अपने ही लिये भोगसामग्री तैयार करनेवालोको पापभोजी बतलाया है। चौदहवें-पन्द्रहवेंमे परमात्मासे वेद, वेदोसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे वर्षा, वर्षासे अन्न, अन्नसे प्राणी, उन प्राणियोमेंसे मनुष्योके द्वारा कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ—इस प्रकार छः क्रमसे यज्ञचक्रका वर्णन करके सोलहवेंमे उसके अनुसार न चलनेवालेका जीवन व्यर्थ बताया है। सत्रहवें-अठारहवेंमे आत्मज्ञानीके लिये कर्तव्यका अभाव सिद्ध करके उसके कर्मोको हेतुरहित बताया है और उन्नीसवेंमे अनासक्तिपूर्वक कर्मका फल भगवत्प्राप्ति बतलाते हुए अर्जुनको नियत कर्म करनेकी आज्ञा दी है।

बीसवेंमे जनकका दृष्टान्त देकर तथा लोकसंग्रहके लिये भी कर्म करना उचित बताया है। इक्कीसवेंमे श्रेष्ठ पुरुषोके आचरणो

और वचनोंको प्रमाण बताकर लोकसंग्रहका विवेचन किया है। बाईसवेंमें अपने दृष्टान्तसे लोकसंग्रहको सिद्ध करके तेईसवेंमें सावधानीपूर्वक कर्म करनेकी प्रेरणा की है और चौबीसवेंमें कर्म न करनेसे हानि बतायी है। पचीसवेंसे उन्तीसवेंतक ज्ञानी महात्माओं-को भी लोकरक्षाके लिये कर्म करनेकी प्रेरणा, सांख्ययोगीकी विलक्षणता और साधारण मनुष्योंको विचलित न करनेकी बात बतलायी है। इसके लिये चौथेसे उन्तीसवेंतकके श्लोकोंमें बीस हेतु दिये हैं। यथा—चौथेमें दो, पाँचवेंमें एक, छठेमें एक, सातवेंमें एक, आठवेंमें दो, नवेंमें एक, दसवें-ग्यारहवेंमें एक, बारहवेंमें एक, तेरहवेंमें दो, सोलहवेंमें एक, उन्नीसवेंमें एक, बीसवेंमें एक, इक्कीसवेंमें एक, बाईसवेंमें एक, पचीसवेंमें एक, छब्बीसवेंमें एक, उन्तीसवेंमें एक—इस प्रकार कर्मकी अवश्य-कर्तव्यतामें कुल बीस हेतु बतलाये हैं।

उसके बाद तीसवेंमें कर्म करनेकी विधि, इकतीसवें-बत्तीसवेंमें इस सिद्धान्तके अनुसार चलनेवालोंकी प्रशंसा और न चलनेवालोंकी निन्दा की है। तैंतीसवेंमें प्रकृतिकी प्रबलताका वर्णन करके और चौंतीसवेंमें प्रकृतिके सुधारके लिये राग-द्वेषके वशीभूत न होनेके लिये कहकर पैंतीसवेंमें स्वधर्मपालनपर जोर दिया है।

छत्तीसवेंमें बिना इच्छा पापाचरणमें प्रवृत्तिका हेतु जाननेके लिये अर्जुनका प्रश्न है। सैंतीसवेंमें उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कामको पापमें प्रवृत्तिका हेतु बतलाया है। अड़तीसवें-उन्चालीसवेंमें मल, विक्षेप और आवरणरूप कामद्वारा ज्ञानके आवृत होनेकी बात

कहकर चालीसवेंमें कामके निवासस्थानोंका और उनके द्वारा जीवात्माके मोहित होनेका वर्णन करके इकतालीसवेंमें पहले इन्द्रियसंयम करके ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले दुरात्मा कामको मारनेके लिये कहा है और फिर बयालीसवें-तैंतालीसवेंमें आत्माकी सर्वश्रेष्ठता समझकर बुद्धिद्वारा मनको वशमें करके दुर्जय कामको मारनेके लिये कहते हुए अध्यायका उपसंहार किया है ।

चतुर्थ अध्याय

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

तीसरे अध्यायमें कहे हुए कर्मयोगकी परम्परा बतलानेके लिये तथा उसमें कर्मविषयक जो बहुत-सी ज्ञातव्य बातें कहनी शेष रहीं, उन्हें कहनेके लिये चौथा अध्याय आरम्भ किया गया है । इसमें भगवान्‌के अवतारसम्बन्धी ज्ञान और तत्त्वज्ञानकी महिमा तथा कर्मयोग और सांख्य (संन्यास) योगका वर्णन होनेसे इसका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' रक्खा गया है ।

इस अध्यायमें बयालीस श्लोक हैं । चार प्रकरण हैं । पहला प्रकरण पहलेसे अठारहवेंतक अठारह श्लोकोंका है जिसमें सगुण भगवान्‌का प्रभाव और कर्मयोगका विषय है । दूसरा, उन्नीसवेंसे तेईसवेंतक पाँच श्लोकोंका है जिसमें योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमा है । तीसरा, चौबीसवेंसे

बत्तीसवेंतक नौ श्लोकोंका है जिसमें फलसहित पृथक्-पृथक् यज्ञोंका कथन है । और चौथा, तैंतीसवेंसे बयालीसवेंतक दस श्लोकोंका है जिसमे ज्ञानकी महिमा है ।

पहले-दूसरे श्लोकोमें योगकी परम्परा और तीसरेमें योगकी महिमा बतलायी है । चौथेमें अर्जुनका अवतारविषयक प्रश्न है । पाँचवेमें श्रीभगवान्‌ने उसका उत्तर देते हुए अपने और अर्जुनके बहुत जन्म होनेकी बात कहकर छठेमें जन्मकी दिव्यता, सातवें-आठवेंमें अवतारके समय और उद्देश्यका वर्णन किया है । नवें-दसवेंमें जन्म-कर्मकी दिव्यताके ज्ञानकी महिमा कही है । ग्यारहवेंमें भगवद्भक्तिका फल भावनाके अनुसार बतलाकर बारहवेंमें देवताओंकी उपासनाका सांसारिक फल शीघ्र मिलनेकी बात कही है । तेरहवें-चौदहवेंमें अपने कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाकर पंद्रहवेंमें मुमुक्षुओके उदाहरणपूर्वक अर्जुनको वैसे ही कर्म करनेकी आज्ञा दी है । सोलहवेंमें कर्मका तत्त्व कहनेकी प्रतिज्ञा करते हुए कर्मतत्त्वका उपक्रम किया है। सत्रहवेंमें कर्मको जाननेकी प्रेरणा और अठारहवेंमें कर्मका तत्त्व सूत्ररूपसे बताया है ।

उसका विवेचन करते हुए उन्नीसवें-बीसवेमें ज्ञानी महात्माके, इक्कीसवेंमें सांख्ययोगीके और बाईसवेमे कर्मयोगीके कर्मोंसे न बँधनेकी तथा तेईसवेंमें यज्ञके लिये आचरण करनेवाले इन सभीके कर्मोंके सर्वथा विलीन हो जानेकी बात कही है ।

इसके बाद पूर्ववर्णित 'यज्ञ' शब्दकी व्याख्या करनेके लिये चौबीसवेंमें समस्त जगत्‌को ब्रह्मरूप समझनेके साधनको ब्रह्मयज्ञ

बताया है । पचीसवेंमें देवपूजनरूप यज्ञ और आत्मा-परमात्माकी एकता समझनेका साधनरूप यज्ञका वर्णन किया है । छब्बीसवेंमें इन्द्रियसंयमरूप यज्ञ और अनासक्तिपूर्वक विषयसेवनरूप यज्ञ बताया है । सत्ताईसवेंमे आत्मसंयमरूप यज्ञ, अट्ठाईसवेंमें द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञका वर्णन किया है । उन्तीसवेंमें प्राणायामरूप तीन प्रकारके यज्ञ और तीसवेंके पूर्वार्ध-में चतुर्थ प्राणायामरूप यज्ञका वर्णन है । इस प्रकार चौबीसवें-से तीसवेंतक—चौबीसवेंमे एक, पचीसवेंमें दो, छब्बीसवेंमे दो, सत्ताईसवेंमे एक, अट्ठाईसवेंमें चार, उन्तीसवें-तीसवेंमें तीन—इन तेरह प्रकारके साधनरूप यज्ञोंका वर्णन करके तीसवेंके उत्तरार्ध और इकतीसवें-बत्तीसवेंमे यज्ञानुष्ठान करनेवालोंकी अन्वय-व्यति-रेकसे महिमा प्रकट करते हुए कर्मतत्त्वका उपसंहार किया है ।

तैंतीसवेंमे द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी महिमा, चौंतीसवें-मे ज्ञानप्राप्तिका उपाय, पैंतीसवेंसे अड़तीसवेंतक ज्ञानकी महिमा और कर्मयोगसे ज्ञानकी स्वत.सिद्धिका निरूपण करके उन्‌चाली-सवेंमें ज्ञानके अधिकारीका वर्णन किया है । चालीसवेंमे संशयात्मा-की निन्दा, इकतालीसवें-बयालीसवेंमे विवेकद्वारा संशयका नाश कर देनेवालेकी प्रशंसा करते हुए कर्मयोगकी रीतिसे कर्म करनेकी आज्ञा देकर अध्यायका उपसंहार किया है ।

पञ्चम अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

चौथे अध्यायमे कर्मतत्त्वका विवेचन करके उसके बाद ज्ञानकी विशेष प्रशंसा की है और अन्तमे अर्जुनकी कर्मयोग

करनेके लिये आज्ञा दी है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनोमें कौन-सा साधन उत्तम है और दोनो साधनोद्वारा परमात्माकी प्राप्ति कैसे होती है, इसका समाधान करते हुए पॉचवॉ अध्याय कहा गया है । इसमें कर्मयोग और सांख्य (संन्यास) योगका वर्णन होनेसे इसका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' रक्खा गया है ।

इस अध्यायमें उन्तीस श्लोक हैं । चार प्रकरण हैं । पहला प्रकरण पहलेसे छठेतक छः श्लोकोका है जिसमें सांख्ययोग और कर्मयोगका निर्णय है । दूसरा, सातवेंसे बारहवेंतक छः श्लोकोका है जिसमें साख्ययोगी और कर्मयोगीके लक्षण और उनकी महिमा है । तीसरा, तेरहवेंसे छब्बीसवेंतक चौदह श्लोकोका है जिसमें ज्ञानयोगका विषय है । और चौथा सत्ताईसवेसे उन्तीसवेंतक तीन श्लोकोका है जिसमें ध्यानयोग और भक्तिका वर्णन है ।

पहले श्लोकमें सांख्ययोग और कर्मयोगकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें अर्जुनका प्रश्न, दूसरे-तीसरेमें भगवान्‌का साख्ययोग और कर्मयोग-दोनोको कल्याणकारक बतलाकर कर्मयोगकी प्रशंसा, चौथे-पॉचवेंमें फलमें दोनोकी एकताका विवेचन करके छठेमे संन्यासको कठिन बताकर कर्मयोगसे शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिका प्रतिपादन है ।

सातवेंमें कर्मयोगीके, आठवे-नवेंमें सांख्ययोगीके कर्म करनेकी प्रणालीका वर्णन करके दसवेंमें भक्तिप्रधान कर्मयोगियोंकी निर्लिप्तता, ग्यारहवेंमें कर्मप्रधान कर्मयोगियोके कर्मका उद्देश्य और बारहवेंमें फलासक्तिके त्यागपूर्वक कर्म करनेवालेकी प्रशसा और सकामी पुरुषकी निन्दा की गयी है ।

फिर, तेरहवेंमें सांख्ययोगीके कर्म करनेका प्रकार बतलाकर चौदहवें-पंद्रहवेंमें आत्मा जीवोंके कर्तृत्व, कर्म और भोक्तापनकी रचना नहीं करता—यह कहकर जीवोंके कर्तापनमें अज्ञानको हेतु बतलाया है। सोलहवेंमें सूर्यका दृष्टान्त देकर ज्ञानयोगके फलरूप तत्त्वज्ञानकी प्रशंसा, सत्रहवेंमें ज्ञानयोगका साधन और फल बतलाकर अठारहवें-उन्नीसवेंमे ज्ञानीकी समताका वर्णन करते हुए उसकी प्रशंसा की है तथा बीसवेंमें उसकी स्थितिका वर्णन किया है। इक्कीसवेंमे विषयासक्तिरहित साधकको अत्यन्त सुखकी प्राप्ति बतलाकर बाईसवें-तेईसवेंमे विषयोंकी निन्दा करते हुए काम-क्रोधको जीतनेवाले अनासक्त पुरुषकी प्रशंसा की है तथा चौबीसवेंसे छब्बीसवेंतक ज्ञानयोगीके लक्षण और उनको निर्वाणपद-की प्राप्ति बतलायी है।

सत्ताईसवें-अट्ठाईसवेंमे ध्यानयोगका संक्षेपमें वर्णन करके उन्तीसवेंमे भगवान्‌के प्रभाव और स्वभावके ज्ञानसे शान्ति प्राप्त होनेकी बात कहते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

षष्ठ अध्याय

आत्मसंयमयोग

पाँचवें अध्यायमे अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए दोनों निष्ठाओंके अधिकारी तथा साधन-प्रणाली आदिका वर्णन तो किया, परंतु अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये—यह बात नहीं

कही। अतः उसका कर्तव्य बतानेके लिये तथा पाँचवें अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवेंमें संक्षेपसे कहे हुए दोनो निष्ठाओंके साधकोंके लिये उपयोगी ध्यानयोगका भलीभाँति वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ किया गया है। ध्यानमें शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-रूप आत्माके संयमकी प्रधानता है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'आत्मसंयमयोग' रक्खा गया है।

इसमें सैंतालीस श्लोक हैं। पाँच प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे चौथेतक चार श्लोकोंका है जिसमें कर्मयोगका विषय और योगारूढ़ पुरुषके लक्षण हैं। दूसरा, पाँचवेंसे नवेंतक पाँच श्लोकोंका है जिसमें आत्म-उद्धारके लिये प्रेरणा और भगवत्प्राप्ति-वाले पुरुषके लक्षण हैं। तीसरा, दसवेंसे बत्तीसवेंतक तेईस श्लोकों-का है जिसमें विस्तारसे ध्यानयोगका विषय है। चौथा, तैंतीसवेंसे छत्तीसवेंतक चार श्लोकोंका है जिसमें मनके निग्रहका विषय है। और पाँचवाँ, सैंतीसवेंसे सैंतालीसवेंतक ग्यारह श्लोकोंका है जिसमें योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिका विषय और भक्तियोगीकी विशेष महिमा है।

पहले-दूसरे श्लोकोंमें कर्मयोगकी प्रशंसा करके तीसरे-चौथेमें योगारूढ होनेका उपाय और योगारूढके लक्षण बताये हैं।

पाँचवें-छठेमें आत्मोद्धारकी प्रेरणा तथा सातवेंसे नवेंतक कर्म-योगसे सिद्ध हुए जितात्मा पुरुषोंके समत्वप्रधान लक्षणोंका वर्णन किया है।

दसवेंमें इस सिद्धिके लिये आवश्यक ध्यानयोग करनेकी प्रेरणा, ग्यारहवेंमें उसके योग्य देश और आसनका वर्णन करके बारहवें-तेरहवेंमें आसनपर बैठनेकी विधि तथा चौदहवेंमें ध्यानयोगके साधनका प्रकार बतलाया है। पंद्रहवेंमें उसका फल, सोलहवें-सत्रहवेंमें ध्यानयोगीके लिये अन्वय-व्यतिरेकसे आहार-विहारके नियम और अठारहवेंमें ध्यानयोगीके लक्षण बतलाकर उन्नीसवेंसे बाईसवेंतक सिद्धयोगीके चित्तकी अवस्था, उसके अपरिमित सुख और अटल स्थितिका वर्णन किया है। तेईसवेंमें इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा, चौबीसवें-पचीसवेंमें सांख्ययोगके अनुसार अचिन्त्यका ध्यान, छब्बीसवेंमें मनको एकाग्र करनेका अभ्यास, सत्ताईसवें-अट्ठाईसवेंमें अचिन्त्यके ध्यानका फल बतलाकर उन्तीसवेंमें सांख्ययोगीके व्यवहारका वर्णन किया है। तीसवें-इकतीसवेंमें भक्तियोगद्वारा सिद्ध पुरुषकी प्रशंसा करके बत्तीसवेंमें समभावयुक्त योगीको सर्वोत्तम बताया है।

तैंतीसवें-चौंतीसवेंमें मनकी चञ्चलताके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है। पैंतीसवेंमें अर्जुनकी बातका अनुमोदन करते हुए अभ्यास और वैराग्यसे मन वशमें होनेकी बात कहकर छत्तीसवेंमें योगके लिये मनोनिग्रहकी विशेष आवश्यकता सिद्ध की है।

सैंतीसवें-अड़तीसवेंमें असंयतमनवाले योगभ्रष्टके नाशकी आशङ्का और उसकी गतिके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है तथा उन्चालीसवेंमें उसका समाधान करनेके लिये प्रार्थना है। चालीसवेंमें कल्याणकारी पुरुषकी दुर्गतिका निषेध करते हुए

आश्वासन देकर इकतालीसवेंमे स्वर्गसुखभोगके अनन्तर योगभ्रष्ट पुरुषके श्रीमानोंके घरमे जन्म होनेकी तथा बयालीसवें-तैंतालीसवें-में वैराग्यवान् योगभ्रष्टोके ज्ञानियोके कुलमें जन्म लेकर पुनः साधनमें लग जानेकी बात कही है । चौवालीसवेंमें योगभ्रष्टके परवश होनेपर भी जबरन् साधनकी ओर खिंचे जानेकी बात कह-कर योगके जिज्ञासुकी प्रशंसा की है। पैंतालीसवेमे योगियोंके कुलमे उत्पन्न प्रयत्नपूर्वक साधन करनेवालेको परम गतिकी प्राप्ति बताकर छियालीसवेमे योगीकी विशेष प्रशंसा और योगी बननेके लिये आज्ञा दी है । फिर सैंतालीसवेंमे सब योगियोमे भक्तियोगीकी श्रेष्ठता बताते हुए अध्यायका उपसहार किया है।

सप्तम अध्याय

ज्ञानविज्ञानयोग

छठे अध्यायके अन्तमे 'मद्गतेनान्तरात्मना' और 'श्रद्धावान्' कहकर श्रद्धा और प्रेमसे भगवान्‌को भजनेवाले भक्तकी प्रशंसा की; इसपर भगवान्‌मे श्रद्धा और प्रेम बढानेमें हेतुभूत गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य कहनेकी आवश्यकता होनेपर सातवॉ अध्याय आरम्भ किया गया है । इसमे निर्गुण-निराकार ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानको 'ज्ञान' और सगुण-निराकार और साकारके तत्त्व-रहस्यके ज्ञानको 'विज्ञान' कहा गया है । इन दोनोंका वर्णन होनेसे इस अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' रक्खा गया है । छठे अध्यायके सैंतीसवेंसे

उन्‌चालीसवेंतक अर्जुनने योगभ्रष्टकी गतिके विषयमे प्रश्न करके संशयछेदनके लिये विनम्र प्रार्थना की। उसपर भगवान्‌का हृदय गद्‌गद और कृपापरवश हो कहनेके लिये उमड़ पड़ा। तब छठे अध्यायके चालीसवे श्लोकसे योगभ्रष्टकी गतिविषयक प्रश्नका उत्तर देते हुए उन्होने सैतालीसवें श्लोकमें भक्तियोगीकी विशेष महिमाका वर्णन किया और उस भक्तियोगीके वर्णनमें ही आनन्द-विभोर होकर उन्होंने सातवॉ अध्याय आरम्भ किया तथा दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक एक सौ ग्यारह श्लोकोका लंबा प्रकरण चलाते हुए उसी विषयको कहते रहे। गीतामे भगवद्‌-वचनोका यह सबसे अधिक लंबा प्रकरण है। सातवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जो अन्तकालीन गतिकी बात कही, भगवान्‌के द्वारा वर्णित उस विषयपर ही अर्जुनको शङ्का हुई है—यह उनकी कोई स्वतन्त्र शङ्का नहीं है। अतः आठवें अध्यायके प्रारम्भमे अर्जुनके प्रश्न उसी विषयसे सम्बन्धित होनेके कारण उस विषयके ही अन्तर्गत हैं। उन प्रश्नोमेंसे छः प्रश्नोका उत्तर तो भगवान्‌ने संक्षेपसे दे दिया, किंतु अन्तकालीन गतिविषयक प्रश्नका उत्तर आठवें अध्यायके अन्ततक विस्तारसे दिया है। इस प्रकार दसवें अध्यायके ग्यारहवे श्लोकतक एक सौ नौ श्लोकोंका यह लंबा प्रकरण भक्तियोगीके विषयमे ही कहा गया है।

इस अध्यायमे तीस श्लोक हैं। पाँच प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे सातवेंतक सात श्लोकोका है जिसमें समग्ररूपको बतलानेके लिये विज्ञानसहित ज्ञानका विषय है। दूसरा, आठवेसे बारहवेंतक पाँच श्लोकोंका है जिसमें सम्पूर्ण पदार्थोमें कारणरूपसे भगवान्‌की

व्यापकताका कथन है। तीसरा, तेरहवेंसे उन्नीसवेंतक सात श्लोकोंका है जिसमें आसुरी स्वभाववालोंकी निन्दा और भगवद्-भक्तोंकी प्रशंसा है। चौथा, बीसवेंसे तेईसवेंतक चार श्लोकोंका है जिसमें अन्य देवताओंकी उपासनाका विषय है। और पाँचवाँ, चौबीसवेंसे तीसवेंतक सात श्लोकोंका है जिसमें भगवान्‌के प्रभाव और स्वरूपको न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमा कहते हुए समग्ररूपका वर्णन किया है।

पहले-दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌के समग्ररूपका ज्ञान होनेके लिये विज्ञानसहित ज्ञान सुननेकी आज्ञा, तीसरेमें ज्ञानकी दुर्लभता, चौथे-पाँचवेंमें अपरा-परा प्रकृति, छठेमें इन दोनोंसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और अपनेको सबका महान् कारण बतलाकर सातवेंमें सूत्र और मणियोंके दृष्टान्तसे भगवान्‌की सर्वरूपताका वर्णन किया है।

आठवेंमें पाँच, नवेंमें चार, दसवेंमें तीन, ग्यारहवेंमें दो और बारहवेंमें तीन—इस प्रकार सातवें श्लोकके 'मत्तः' पदके बादसे बारहवें श्लोकके 'मत्तः' पदतक सत्रह विभूतियोंके वर्णनपूर्वक कारणरूपसे भगवान्‌की व्यापकता सिद्ध की है।

तेरहवेंमें त्रिगुणमयी मायासे जीवोंके मोहित होनेकी बात कहकर चौदहवेंमें उस मायासे तरनेका उपाय—भगवान्‌की शरणागति बतलाया है और पंद्रहवेंमें भगवान्‌की शरण ग्रहण न करनेका कारण दुर्गुण और दुराचारको बतलाया है। सोलहवेंमें

श्रेष्ठ कर्मकारी चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्रहवेंसे उन्नीसवेंतक ज्ञानी भक्तकी विशेष प्रशसा और दुर्लभता कही है ।

बीसवेंमे कामनासे मोहित पुरुषोके अन्य देवोकी उपासना करनेकी, इक्कीसवेंमे अन्य देवोमे स्वयं ही श्रद्धा स्थिर करनेकी बात कहकर बाईसवें-तेईसवेंमे सकाम देवोपासनाका फल नाशवान् बताते हुए भगवद्भक्तिसे भगवत्प्राप्तिका कथन है ।

चौबीसवें-पचीसवेंमे अज्ञानके कारण भगवान्‌के सगुणरूप और उसके प्रभावको न जाननेवालेका तथा छब्बीसवेंमे भगवान्‌की सर्वज्ञताका वर्णन है और सत्ताईसवेंमे भगवान्‌को न जाननेमे इच्छाद्वेषजनित मोहको कारण बताया है । अट्ठाईसवेंमे निष्पाप, द्वन्द्वमोहनिर्मुक्त, दृढनिश्चय मनुष्य भगवान्‌को भजते हैं—यह कहकर उन्तीसवें-तीसवेंमे भगवान्‌का आश्रय लेकर मुक्तिके लिये भजनेवालोको समग्र परमात्माका ज्ञान और अन्तकालमे भी वैसा ज्ञान होनेसे भगवत्प्राप्तिका वर्णन करते हुए अध्यायका उपसहार किया है ।

अष्टम अध्याय

अक्षरब्रह्मयोग

सातवे अध्यायके अन्तमे ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ—इन छहोको और अन्तकालमे भगवान्‌को जाननेकी महिमाको सुनकर ब्रह्म आदिके स्वरूपको तथा अन्त-

कालीन गतिके प्रकारको भलीभाँति जाननेके उद्देश्यसे अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसका उत्तर देते हुए आठवाँ अध्याय कहा गया है। इसमें सगुण-निर्गुण और ॐकारस्वरूप अक्षर परमात्माका वर्णन होनेसे इस अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें अट्ठाईस श्लोक हैं। तीन प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे सातवेंतक सात श्लोकोंका है जिसमें ब्रह्म अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर है। दूसरा, आठवेंसे बाईसवेंतक पन्द्रह श्लोकोंका है जिसमें सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारका विषय है। और तीसरा, तेईसवेंसे अट्ठाईसवेंतक छः श्लोकोंका है जिसमें शुक्ल और कृष्ण मार्गका विषय तथा योगीकी महिमा है।

पहले श्लोकमें अर्जुनके पाँच और दूसरेमें दो प्रश्न हैं। फिर तीसरेमें भगवान्‌ने तीन प्रश्नोंका, चौथेमें तीनका और पाँचवेंमें सातवें प्रश्नका उत्तर दिया है। पाँचवें श्लोकमें सातवें प्रश्नका संक्षेपसे उत्तर देकर छठेमें अन्तसमयके स्मरणका महत्त्वपूर्ण नियम बताते हुए सातवेंमें निरन्तर स्मरणके साथ स्वकर्तव्य कर्म करनेकी आज्ञा दी है।

इसके बाद पंद्रह श्लोकोंमें तीन-तीन श्लोकोंका एक-एक विषय है। जिसमें आठवेंसे दसवेंतक फलसहित सगुण-निराकारके चिन्तनका, ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक फलसहित निर्गुण-निराकारके चिन्तनका और चौदहवेंसे सोलहवेंतक सगुण-साकारके निरन्तर चिन्तनसे अपनी प्राप्तिकी सुलभता और महत्ता बतलाकर सत्रहवेंसे

उन्नीसवेंतक ब्रह्मलोकको नाशवान् बताते हुए सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयका तथा बीसवेंसे बाईसवेंतक सम्पूर्ण उपासनाओंके फलकी एकताका वर्णन करके परम पुरुषकी प्राप्तिका उपाय अनन्यभक्ति बताया है ।

तेईसवेंसे अट्ठाईसवेंतक सोलहवें श्लोकमें बताये हुए लौटकर न आने और आनेके दोनों मार्गोंका शुक्ल और कृष्ण नामसे वर्णन है । वहाँ तेईसवेमें उनके वर्णनकी प्रतिज्ञा है, चौबीसवेंमें शुक्ल और पचीसवेंमे कृष्णमार्गका वर्णन है । छब्बीसवेंमें दोनोको शाश्वत बतलाकर एकसे अनावृत्ति और दूसरेसे पुनरावृत्ति बतलायी है तथा सत्ताईसवेमें दोनोंको जाननेका माहात्म्य कहकर और अर्जुनको योगयुक्त बननेकी आज्ञा देकर अट्ठाईसवेंमें इस अध्यायमें वर्णित विषयके ज्ञानकी महिमा बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार किया है ।

नवम अध्याय

राजविद्याराजगुह्ययोग

सातवें अध्यायमें भगवान् ज्ञान-विज्ञानका वर्णन कर रहे थे, पर बीचमें आठवे अध्यायमें अर्जुनने सात प्रश्न पूछ लिये; इसलिये पहले उनका उत्तर दिया । उनमेंसे छः प्रश्नोका उत्तर तो संक्षेपसे दे दिया और सातवें प्रश्नके उत्तरमें अन्तकालीन गतिके विषयको ही, जिसे भगवान्‌को प्रधानतया कहना था, विस्तारपूर्वक कहा । अतः सातवे अध्यायमें कहनेसे बचे हुए उसी ज्ञान-विज्ञानका पुनः

भलीभाँति वर्णन करनेके लिये नवाँ अध्याय आरम्भ किया गया है। छठे अध्यायके छियालीसवे श्लोकमे भगवान्‌ने अर्जुनको 'योगी' बननेके लिये कहा और बादमे आठवें अध्यायके सत्ताईसवे श्लोकमें भी 'योगयुक्त' होनेके लिये ही कहा। इससे पहले छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमे उन समस्त योगियोमे 'मद्गतान्तरात्मा श्रद्धावान्' भक्तियोगीकी विशेष महिमा कही थी, उसीका वर्णन विशेषतासे नवें अध्यायमें किया गया है।

इस अध्यायमे भगवान्‌ने जो 'मया ततमिदं सर्वम्' आदि उपदेश दिया है, वह समस्त विद्याओका राजा है और जो भगवान्‌ने अपने आपको प्रकट करके अर्जुनको अपने शरण होने और अपनेमें मन लगानेके लिये कहा है, वह सम्पूर्ण गोपनीय भावोका राजा है; इन्हींका वर्णन होनेसे इस अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें चौंतीस श्लोक हैं। छः प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे छठेतक छः श्लोकोका है जिसमे प्रभावसहित विज्ञानका विषय है। दूसरा, सातवेंसे दसवेंतक चार श्लोकोंका है जिसमें जगत्‌की उत्पत्ति आदिका विषय है। तीसरा, ग्यारहवेंसे पंद्रहवेंतक पाँच श्लोकोका है जिसमें भगवान्‌का तिरस्कार करनेवाले आसुरी प्रकृतिवालोकी निन्दा और दैवी प्रकृतिवालोके भगवद्भजनका प्रकार है। चौथा, सोलहवेंसे उन्नीसवेंतक चार श्लोकोका है जिसमें सर्वात्मरूपसे प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन है। पाँचवाँ, बीसवेंसे पचीसवेंतक छः श्लोकोका है जिसमे सकाम और

निष्काम उपासनाका फल है। और छठा, छब्बीसवेंसे चौतीसवेंतक नौ श्लोकोका है जिसमें भक्तिके अधिकारियोका और निष्काम भगवद्भक्तिकी महिमाका वर्णन है।

पहले श्लोकमें सातवे अध्यायसे घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करते हुए ज्ञान-विज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा, दूसरेमे उस ज्ञानकी आठ विशेषणोसे प्रशंसा, तीसरेमें अश्रद्धालुको जन्म-मरणकी प्राप्ति वतलायी है और चौथे-पाँचवेमे राजविद्याका वर्णन करते हुए छठेमें आकाश और वायुके दृष्टान्तसे जगत्की अपनेमे स्थिति वतायी है।

सातवे-आठवेंमें प्रकृतिके सम्बन्धसे अपनेको जगत्का कर्त्ता वतलाकर नवेंमे उदासीनताके कारण उन कर्मोसे अपने सम्बन्धका अभाव वताया है। और दसवेंमे अपनी अध्यक्षतामें प्रकृतिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति आदिका होना वताया है।

ग्यारहवे-बारहवेंमें ऐसे सर्वसामर्थ्यवान् भगवान्के प्रभावको न समझनेवाले मूढोकी निन्दा और तेरहवेंसे पंद्रहवेंतक भगवान्को जानकर भजन करनेकी रीति और उपासनाके भेदका वर्णन किया है।

सोलहवेमे आठ, सत्रहवेंमे दस, अठारहवेमें बारह और उन्नीसवेंमें पाँच—इस प्रकार पैंतीस क्रिया, भाव, पदार्थ आदिका वर्णन करके उन सबमें कार्य-कारणरूपसे अपनेको व्यापक वतलाया है।

वीसवें-इक्कीसवेमें सकाम यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्योके आवागमन-की और वाईसवेंमे अनन्यभक्तके योगक्षेमवहनकी वात कहकर तेईसवेंमें देवताओको भगवान्से अलग समझकर किये गये देवपूजनको अविधिपूर्वक अपना पूजन वताया है। और चौवीसवे-पचीसवेमें

भगवान्‌को सम्पूर्ण यज्ञोंके भोक्ता और प्रभुके रूपमें तत्त्वसे न जाननेके कारण पतन होनेकी तथा देवादिके पूजकको तदनुरूप नाशवान् फल प्राप्त होनेकी बात कहकर भगवान्‌की पूजा करनेवालोंको भगवत्प्राप्ति होनेकी बात कही है।

छब्बीसवेंमें पत्र, पुष्प, फल, जलको स्वयं भक्षण करनेका कथन, सत्ताईसवेंमें सर्वकर्मसमर्पणकी आज्ञा, अट्ठाईसवेंमें उसका फल कर्मबन्धनसे मुक्ति और भगवत्प्राप्ति बतलाकर उन्तीसवेंमें भगवान्‌की समताका वर्णन किया है। तीसवेंसे बत्तीसवेंतक भक्त हो जानेके बाद दुराचारिताके कारण और जातिकी नीचताके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव बतलाकर, तैंतीसवेंमें आचरण और जाति दोनोंसे उत्तम भक्तोंकी महिमा कहकर भगवद्भजनके लिये प्रेरणा की है। इस प्रकार तीसवेंसे तैंतीसवेंतक चार श्लोकोंमें क्रमशः दुराचारी, पापयोनि, स्त्री, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—इन सातोंका नाम लेकर सभीको भगवद्भक्तिका अधिकारी बताया है और चौंतीसवेंमें शरणागतिरूप भगवद्भक्तिके स्वरूपका वर्णन करते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

दशम अध्याय

विभूतियोग

सातवें और नवें अध्यायमें विभूतियोंका वर्णन बहुत संक्षेपमें होनेके कारण उनका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये दसवें अध्यायका

आरम्भ किया गया है। विभूतियोंका ही विशेष वर्णन होनेसे इस अध्यायका नाम 'विभूतियोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमे बयालीस श्लोक है। चार प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे सातवेंतक सात श्लोकोका है जिसमें भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका कथन तथा उनके जाननेका फल है। दूसरा, आठवेंसे ग्यारहवेतक चार श्लोकोंका है जिसमे फल और प्रभावसहित भक्तियोगका कथन है। तीसरा, बारहवेंसे अठारहवेतक सात श्लोकोका है जिसमे अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति एवं विभूति और योगशक्तिको कहनेके लिये प्रार्थना है। और चौथा, उन्नीसवेसे बयालीसवेतक चौवीस श्लोकोका है जिसमें भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोका और योगशक्तिका कथन है।

पहले श्लोकमे भगवान्‌ने पुनः महत्त्वपूर्ण वचन कहनेकी प्रतिज्ञा की है। दूसरेमे अपने प्रभावकी दुर्विज्ञेयताका वर्णन करके तीसरेमे उसके जाननेका फल बतलाया है। चौथे-पॉचवेंमे वीस भावोकी और छठेमे सप्तमहर्षियो और सनकादिकी अपनेसे उत्पत्ति बतलाकर सातवेमें अपनी विभूति तथा योगको जाननेका निश्चल भक्तियोगकी प्राप्तिरूप फल बतलाया है।

आठवे-नवेमे भगवान्‌के प्रभावको समझनेवाले प्रेमी भक्तोंके प्रेमपूर्वक भजनका प्रकार बताकर दसवें-ग्यारहवेमे उन भक्तोपर कृपा करके भगवान्‌के द्वारा उनको ज्ञान प्रदान किये जानेकी बात कही गयी है।

आगेके सात श्लोकोंमेंसे बारहवेंसे पन्द्रहवेंतक अर्जुनद्वारा भगवान्‌के प्रभावसहित स्तुतिका वर्णन है और सोलहवेंसे अठारहवेंतक विभूतियोंका तथा योगका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये प्रार्थना है।

उन्नीसवेंमें भगवान्‌ने अपनी दिव्य विभूतियोंकी अनन्तताका उपक्रम करके बीसवेंमें चार, इक्कीसवेंमें चार, बाईसवेंमें चार, तेईसवेंमें चार, चौबीसवेंमें तीन, पचीसवेंमें चार, छब्बीसवेंमें चार, सत्ताईसवेंमें तीन, अट्ठाईसवेंमें चार, उन्तीसवेंमें चार, तीसवेंमें चार, इकतीसवेंमें चार, बत्तीसवेंमें पाँच, तैंतीसवेंमें चार, चौंतीसवेंमें नौ, पैंतीसवेंमें चार, छत्तीसवेंमें पाँच, सैंतीसवेंमें चार, अड़तीसवेंमें चार—इस प्रकार बीसवेंसे अड़तीसवेंतक इक्कासी विभूतियोंका वर्णन किया है। उसके बाद उन्‌चालीसवेंमें अपनेको सम्पूर्ण भूतोंका बीज और सबमें व्यापक बताकर चालीसवेंमें अपनी दिव्य विभूतियोंकी अनन्तताका उपसंहार किया है। फिर इकतालीसवेंमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करके और बयालीसवेंमें जाननेयोग्य विभूति और योगको तथा समस्त जगत्‌को अपने एक अंशद्वारा व्याप्त बताकर अध्यायका उपसंहार किया है।

एकादश अध्याय

विश्वरूपदर्शनयोग

दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण जगत्‌को अपने एक अंशमें बतलाया; उस विश्वरूपको दिखलानेके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर उसका उत्तर देते हुए ग्यारहवाँ अध्याय कहा गया है। इस

अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें पचपन श्लोक हैं। आठ प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे चारतक चार श्लोकोंका है, जिसमें विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना है। दूसरा, पाँचवेंसे आठवेंतक चार श्लोकोंका है, जिसमें भगवान्‌द्वारा अपने विश्वरूपका और अर्जुनको दिव्य चक्षु देनेका वर्णन है। तीसरा, नवेंसे चौदहवेंतक छः श्लोकोंका है। जिसमें धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयद्वारा विश्वरूपका वर्णन है। चौथा, पंद्रहवेंसे इकतीसवेंतक सत्रह श्लोकोंका है, जिसमें अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपका देखा जाना और उनकी स्तुति करना है। पाँचवाँ, बत्तीसवेंसे चौंतीसवेंतक तीन श्लोकोंका है, जिसमें भगवान्‌द्वारा अपने प्रभावका वर्णन और युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित करना है। छठा, पैंतीसवेंसे छियालीसवेंतक बारह श्लोकोंका है, जिसमें भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति और चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना है। सातवाँ, सैंतालीसवेंसे पचासवेंतक चार श्लोकोंका है, जिसमें भगवान्‌द्वारा अपने विश्वरूपके दर्शनकी महिमाका कथन तथा चतुर्भुज और सौम्य-रूपका दिखाया जाना है। और आठवाँ, इक्यावनवेंसे पचपनवेंतक पाँच श्लोकोंका है, जिसमें बिना अनन्यभक्तिके चतुर्भुज रूपके दर्शनकी दुर्लभताका और फलसहित अनन्यभक्तिका कथन है।

पहले-दूसरे श्लोकोंमें अर्जुनने अपने मोहकी निवृत्ति मानते हुए भगवान्‌के वचनोंकी प्रशंसा करके तीसरे-चौथेमें विश्वरूप-दर्शनके लिये प्रार्थना की है।

पाँचवेंसे सातवेंतक भगवान्‌ने विश्वरूपदर्शनकी आज्ञा दी है। और आठवेंमें दिव्य चक्षु प्रदान करनेकी बात कहकर विश्वरूप देखनेको कहा है।

नवेंमे भगवान्‌द्वारा विश्वरूप दिखाये जानेका कथन है। दसवें-ग्यारहवेंमें उस रूपका और बारहवेंमे उसके तेजका वर्णन है। उसके बाद तेरहवें-चौदहवेंमें अर्जुनद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌के अंशमें स्थित देखकर उनकी स्तुति करनेके उपक्रमका कथन है।

पंद्रहवेंमें अर्जुनद्वारा भगवान्‌के एक अंशमें सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेका, सोलहवेंमें उसकी अनन्तताका, सत्रहवेंमें तेजरूपका और अठारहवेंमे सर्वरूपताका वर्णन है। उन्नीसवें-बीसवेंमें भगवान्‌के अत्यन्त तेजस्वी रूपको देखकर उस उग्ररूपसे लोगोंके व्यथित होनेकी, इक्कीसवें-बाईसवेंमें महर्षियोंके द्वारा स्तुति की जानेकी और देव, यक्ष, असुर आदिके विस्मित होनेकी बात कही गयी है। तेईसवेंसे पचीसवेंतक भगवान्‌के भयङ्कर रूपको देखकर अर्जुनके भयभीत होनेकी और छब्बीसवेंसे उन्तीसवेंतक दोनो सेनाओंके विराट्‌रूपमें प्रविष्ट होनेकी बात नदी और पतंगोंके उदाहरणसे बतलायी गयी है। तीसवें-इकतीसवेंमें तेजस्वी रूपसे जगत्‌को ग्रसनेका कथन करते हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌का परिचय पूछे जानेका वर्णन है।

बत्तीसवेंमें भगवान्‌ने अपनेको कालरूप बतलाया है और तैंतीसवें-चौंतीसवेंमें अर्जुनको निमित्तमात्र बनकर वैरियोंको मारनेकी आज्ञा दी है।

पैंतीसवेंमे भगवान्‌की स्तुति करनेके लिये अर्जुनके तैयार होनेका

कथन है । छत्तीसवें-सैंतीसवेंमें भगवान्‌की महत्ता, अड़तीसवेंसे चालीसवेंतक अनन्तरूपता और अनन्त सामर्थ्यके वर्णनपूर्वक बार-बार नमस्कार करनेका कथन है । इकतालीसवें-बयालीसवेंमें अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना है । तैंतालीसवेंमें भगवान्‌का प्रभाव वर्णन करके चौवालीसवेंमें अपराध सहनेके लिये कहा है । पैंतालीसवें-छियालीसवेंमें चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की है ।

सैंतालीसवेंसे उन्चासवेंतक भगवान्‌ने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभता बतलाकर चतुर्भुज रूप देखनेकी आज्ञा दी है । पचासवेंमें अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखानेके बाद मानुषरूप होकर धीरज बँधानेकी बात कही है ।

इक्कावनवेंमें भगवान्‌के मनुष्यरूपको देखकर अर्जुनके शान्तचित्त होनेका वर्णन है । बावनवें-तिरपनवेंमें चतुर्भुज रूपकी दुर्लभता, चौवनवेंमें अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्तिकी सुलभता और पचपनवेंमें अनन्यभक्तके लक्षण और उसको भगवत्प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार किया है ।

द्वादश अध्याय

भक्तियोग

भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें अव्यक्तको जाननेकी तथा आठवें अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक और इक्कीसवेंमें अव्यक्त अक्षरकी उपासनाकी बात कही एवं ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें भक्तिकी महिमा विशेषरूपसे कही ।

इसपर अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसके उत्तरमें भक्तिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करनेके लिये बारहवाँ अध्याय कहा गया है। इस अध्यायमें प्रधानतया भगवद्भक्तिका और भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन होनेसे इसका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें बीस श्लोक हैं। दो प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे बारहवेंतक बारह श्लोकोंका है, जिसमें साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय और भगवत्प्राप्तिके उपायका विषय है। और दूसरा, तेरहवेंसे बीसवेंतक आठ श्लोकोंका है जिसमें भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषों और साधकोंके लक्षण हैं।

पहले श्लोकमें साकार और निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है—यह अर्जुनका प्रश्न है। दूसरेमें भक्तिकी श्रेष्ठताका, तीसरेमें निर्गुणके आठ विशेषणोंका, चौथेमें निर्गुण-उपासकोंके तीन लक्षणोंका और उपासनाके फलका वर्णन है। पाँचवेंमें अव्यक्त-उपासनाकी कठिनता सिद्ध की है। छठे-सातवेंमें समस्त कर्म भगवान्‌के समर्पण करके निरन्तर भजन करनेका प्रकार और भगवान्‌द्वारा भक्तके उद्धारका कथन है। इस प्रकार दोनों उपासनाओंका निर्णय करके आठवेंमें ध्यानयोग करनेकी आज्ञा देकर उसका फल बतलाया है। नवेंसे ग्यारहवेंतक एक-एकमें असमर्थ होनेपर क्रमशः अभ्यास-योग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफलत्याग करनेकी आज्ञा दी है। उसके बाद बारहवेंमें अभ्याससे ज्ञानकी, ज्ञानसे ध्यानकी, ध्यानसे भी कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठताका फलसहित प्रतिपादन किया है।

तेरहवेंसे उन्नीसवेंतक भक्तियोगसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन है, जिसमें आदिके तेरहवें-चौदहवेंका एक प्रकरण है, अन्तके अठारहवें-उन्नीसवेंका एक प्रकरण है और बीचके पंद्रहवेसे सत्रहवेतक एक-एक करके तीन प्रकरण हैं—ऐसे कुल पाँच प्रकरणोंमें उनके लक्षणोंका कथन है। बीसवेंमें उपर्युक्त साधनोंको आदर्श मानकर चलनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

त्रयोदश अध्याय

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

बारहवें अध्यायमें अर्जुनके इस प्रश्नपर कि सगुण और निर्गुण इन दोनो प्रकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है, सगुण-उपासनाका विवेचन तो उसी अध्यायमें कर दिया, किंतु अव्यक्त अक्षर निर्गुणको जानने और उसकी उपासना करनेका विशेष वर्णन नहीं हुआ; अतः उसका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये व्यक्त और अव्यक्तका एवं क्षर और अक्षरका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे विवेचन करते हुए तेरहवे अध्यायका आरम्भ किया गया है। इसीलिये इसका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमे चौतीस श्लोक हैं। दो प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे अठारहवेंतक अठारह श्लोकोका है, जिसमे भक्तिसहित क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेयका विषय है। और दूसरा, उन्नीसवेसे

चौंतीसवेंतक सोलह श्लोकोंका है; जिसमें ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका विषय है।

पहले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन है, दूसरेमें क्षेत्रज्ञके साथ परमात्माकी एकता करते हुए ज्ञानका लक्षण बताया है। तीसरेमें क्षेत्रके विषयमें चार और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें सुननेकी आज्ञा है। चौथेमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रोंका प्रमाण देकर पाँचवें-छठेमें क्षेत्रका और क्षेत्रके सात विकारोंका वर्णन किया है। सातवेंमें नौ और आठवेंसे दसवेंतक प्रत्येकमें तीन-तीन और ग्यारहवेंमें दो—इस प्रकार ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन किया है। बारहवेंमें ज्ञेयके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसका वर्णन किया है। फिर तेरहवेंमें सगुण निराकारका, चौदहवेंमें सगुण-निर्गुणकी एकताका, पंद्रहवेंमें ज्ञेयतत्त्वकी व्यापकताका, सोलहवेंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूपका, सत्रहवेंमें ज्योतिःस्वरूपका वर्णन करके अठारहवेंमें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके जाननेका फलसहित उपसंहार किया है।

उन्नीसवेंमें प्रकृति-पुरुषको अनादि कहकर उसके उत्तरार्ध और बीसवेंके पूर्वार्धमें प्रकृतिके कर्तापनकी प्रधानताका तथा बीसवेंके उत्तरार्धसहित इक्कीसवेंमें प्रकृतिस्थ पुरुषके भोक्तापनका और उसको गुणोंके सङ्गसे नाना योनियोंकी प्राप्तिका वर्णन करते हुए बाईसवेंमें परम पुरुषका स्वरूप बताया है। तेईसवेंमें गुणोंके सहित प्रकृतिको और उपर्युक्त प्रकारसे पुरुषको जाननेकी महिमाका वर्णन है। चौबीसवेंमें इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोग, सांख्य-

योग और कर्मयोग—ये तीन उपाय बताये हैं। पचीसवेंमें इन उपायोंको न जाननेवालोंके लिये केवल महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति बतलायी है। छब्बीसवेंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, सत्ताईसवेंमें क्षेत्रको नाशवान् और परमात्माको अविनाशी तथा समभावसे स्थित जाननेवालेकी प्रशंसा की है। अट्ठाईसवेंमें समदर्शनकी महिमा कहते हुए उन्तीसवें-तीसवेंमें आत्माका अकर्तृत्व और भूतोंके पृथक् भावको परमात्मामें स्थित और उसीसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति जाननेका फल ब्रह्मप्राप्ति बताया है। इकतीसवेंसे तैंतीसवेंतक तीन श्लोकोंमें क्षेत्रज्ञके प्रभावका तथा आकाशकी भाँति आत्माकी निर्लेपताका और सूर्यकी भाँति अकर्तापनका वर्णन करके चौंतीसवेंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागको भली प्रकार जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

चतुर्दश अध्याय

गुणत्रयविभागयोग

तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणोंके सङ्गको सत्-असत् योनिमें जन्म देनेका कारण बताया, वे गुण कितने हैं, उनके नाम क्या हैं, कैसे बाँधते हैं, कैसे जन्म देते हैं, पुरुष उन गुणोंसे कैसे अतीत हो सकता है और गुणातीतके क्या लक्षण होते हैं—इनका विवेचन करनेके लिये चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है और इन सबका विवेचन होनेके कारण इसका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें सत्ताईस श्लोक हैं। तीन प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे चौथेतक चार श्लोकोंका है, जिसमें ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका विषय है। दूसरा, पाँचवेंसे अठारहवेंतक चौदह श्लोकोका है, जिसमें सत्त्व, रज, तम—तीनो गुणोंका विषय है। और तीसरा, उन्नीसवेंसे सत्ताईसवेंतक नौ श्लोकोंका है, जिसमें भगवत्प्राप्तिका उपाय और गुणातीत पुरुषके लक्षण हैं।

पहले-दूसरे श्लोकोमें ज्ञानकी महिमा और तीसरे-चौथेमें प्रकृति-पुरुषसे संसारकी उत्पत्तिका वर्णन है।

पाँचवेंमें प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज, तम—तीनो गुणोंको बन्धनकारक बतलाकर छठेसे आठवेंतक क्रमशः तीनो गुणोंके बाँधनेका अलग-अलग प्रकार बतलाया है। नवेंमें एक-एक गुणके अपने-अपने कार्यमें जोड़नेकी, दसवेंमें दो गुणोंको दबाकर क्रमशः प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही है। ग्यारहवेंसे तेरहवें-तक बढ़े हुए तीनों गुणोंके क्रमशः लक्षण और चौदहवें-पंद्रहवेंमें बढ़े हुए गुणोमें मरनेवालोंकी गुणानुरूप तीन गतियोका वर्णन है। सोलहवेंमें तीनो प्रकारके कर्मोंका फल, सत्रहवेंमें तीनों गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ और अठारहवेंमें गुणोमें स्थित पुरुषोंकी गुणानुसार अलग-अलग गतियाँ बतायी हैं।

उन्नीसवें-बीसवेंमे तीनो गुणोंको ही समस्त कर्मोंके कर्तृत्वमें हेतु समझकर गुणातीत द्रष्टाके ध्यानकी विधि और उसका फल—परमात्माकी प्राप्ति बतलाया है। इक्कीसवेंमें गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके उपायके सम्बन्धमें अर्जुनके

तीन प्रश्न हैं। बाईसवें-तेईसवेंमें गुणातीतके निष्क्रियतारूप लक्षणका और चौबीसवें-पचीसवेंमें समतापूर्वक आचरणका वर्णन है। छब्बीसवेंमें अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणातीत होनेका उपाय बतलाकर सत्ताईसवेंमें भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्म, अमृत, शाश्वत-धर्म और एकान्तसुखकी प्रतिष्ठा (स्वरूप) बताते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

पञ्चदश अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बतलाया गया। भजनीय—परमात्मा, और भक्त—जीवका स्वरूप, तथा व्यभिचार—संसारका त्याग, इन तीन विषयोंके विवेचनरूप गुह्यतम शास्त्रको कहनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। इसमें क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम भजनीय परमात्मा पुरुषोत्तमका स्वरूप बतलाया जानेके कारण इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें बीस श्लोक हैं। चार प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे छठेतक छः श्लोकोंका है जिसमें संसारवृक्षका कथन और भगवत्प्राप्तिका उपाय है। दूसरा, सातवेंसे ग्यारहवेंतक पाँच श्लोकोंका है जिसमें जीवात्माका विषय है। तीसरा, बारहवेंसे पंद्रहवें-तक चार श्लोकोंका है जिसमें प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका विषय है। और चौथा, सोलहवेंसे बीसवेंतक पाँच श्लोकोंका है

जिसमें क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तमका विषय है। इन चार प्रकरणोंमें पहले प्रकरणके चौथे श्लोकमें प्रपत्तिका, दूसरे प्रकरणके दसवें-ग्यारहवेंमें आत्म-अनात्म-विवेकका, तीसरे प्रकरणके पंद्रहवेंमें वेदाध्ययनका और चौथे प्रकरणके उन्नीसवेंमें भजनका तथा अन्तिम बीसवें श्लोकमें इस अध्यायका तत्त्व जाननेका प्रतिपादन करके भगवत्प्राप्तिके पाँच उपाय बताये हैं।

पहले पाँच श्लोकोंमें संसारका वर्णन है, जिनमेंसे ढाईमें संसाररूप वृक्षका वर्णन और ढाईमें उसे काटकर भगवान्‌के शरण होनेकी विधि तथा भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण हैं। छठेमें ईश्वरके परमधामका वर्णन है (इस श्लोकका बारहवें श्लोकके साथ सम्बन्ध है)।

सातवेंसे नवेंतक जीवात्माके स्वरूप, उसके गमनागमन और भोग भोगनेकी रीतिका तथा दसवें-ग्यारहवेंमें प्रत्येक अवस्थामें स्थित जीवात्माको साधारणतया मूर्खोंके द्वारा न जाननेकी और ज्ञानीजनोंके द्वारा जाननेकी बात कही है।

बारहवेंमें भगवान्‌के तेजरूपका, तेरहवेंमें ओजरूप और सोमरूपका, चौदहवेंमें जठराग्निरूपका वर्णन किया गया है। फिर पन्द्रहवेंमें भगवान्‌को अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें स्थित बताकर उन्हींसे स्मृति आदिका होना बताया गया है।

सोलहवेंमें क्षर और अक्षरका स्वरूप तथा सत्रहवेंमें पुरुषोत्तमका स्वरूप बताकर अठारहवेंमें भगवान्‌ने अपने-आपको पुरुषोत्तम बतलाया है। फिर उन्नीसवेंमें उसको जाननेवालेका महत्त्व बतलाकर

वीसवेंमें इस गुह्यतम शास्त्रको जाननेवालेकी कृतकृत्यताका वर्णन करते हुए अध्यायका उपसंहार किया है ।

षोडश अध्याय

दैवासुरसम्पद्विभागयोग

सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें और नवें अध्यायके ग्यारहवेंसे चौदहवेंतक दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिका संक्षेपमें वर्णन हुआ था, अतः उन दोनोंका विस्तृत विवेचन करनेके लिये सोलहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है । इसीलिये इसका नाम 'दैवासुर-सम्पद्विभागयोग' रक्खा गया है ।

इस अध्यायमें चौबीस श्लोक हैं । तीन प्रकरण हैं । पहला प्रकरण पहलेसे पाँचवेंतक पाँच श्लोकोंका है जिसमें फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका कथन है । दूसरा, छठेसे बीसवेंतक पंद्रह श्लोकोंका है जिसमें आसुरी सम्पदावालोंके लक्षण और उनकी अधोगतिका कथन है । और तीसरा, इक्कीसवेंसे चौबीसवेंतक चार श्लोकोंका है जिसमें काम-क्रोध-लोभरूप शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा है ।

पहले श्लोकमें नौ, दूसरेमें ग्यारह, तीसरेमें छः—इस प्रकार दैवी सम्पत्तिके छब्बीस लक्षणोंका, चौथेमें आसुरी सम्पत्तिके छः लक्षणोंका वर्णन करके पाँचवेंमें दोनोंका क्रमशः मुक्ति और बन्धनरूप सामान्य फल बतलाया है ।

छठेमें आसुरी सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन सुननेकी आज्ञाका, सातवें-आठवेंमें आसुर पुरुषोंके अज्ञानपूर्ण सिद्धान्तका, नवेंसे बारहवेंतक उस सिद्धान्तका आश्रय करनेवालोंके मोहजनित दुराचारका और तेरहवेंसे पंद्रहवेंतक उनके मनोरथोंका वर्णन है। सोलहवेंमें दुराचारका फल नरककी प्राप्ति बताया है। सत्रहवें-अठारहवेंमें उनके दुर्गुणोका और उन्नीसवें-बीसवेंमें दुर्गुणोंके फल-स्वरूप आसुरी योनि और नरककी प्राप्तिका वर्णन है।

इक्कीसवेंमें काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार बतलाकर बाईसवेंमें उनसे रहित होकर साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी है। तेईसवेंमें शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करनेसे शुभ फलका अभाव बतलाकर चौबीसवेंमें शास्त्रके आज्ञानुसार कर्म करनेकी प्रेरणा करते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

सप्तदश अध्याय

श्रद्धात्रयविभागयोग

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करनेवालेको सुख, सिद्धि और परमगतिकी प्राप्तिका निषेध किया; इसपर शास्त्रविधिको त्यागकर श्रद्धासे पूजनेवालोंकी निष्ठाके विषयमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसका उत्तर देते हुए सत्रहवाँ अध्याय कहा गया है। इसमें त्रिविध श्रद्धाका विभाग-

पूर्वक विवेचन होनेके कारण इस अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभाग-योग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें अट्ठाईस श्लोक हैं। तीन प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे छठेतक छः श्लोकोंका है जिसमें श्रद्धाका और शास्त्र-विपरीत घोर तप करनेवालोंका विषय है। दूसरा, सातवेंसे बाईसवें-तक सोलह श्लोकोंका है जिसमें आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद हैं। और तीसरा, तेईसवेंसे अट्ठाईसवेंतक छः श्लोकोंका है जिसमें 'ॐ तत्सत्'के प्रयोगकी और असत्की व्याख्या है।

पहले श्लोकमें अर्जुनका निष्ठाविषयक प्रश्न है। दूसरे-तीसरेमें अन्तःकरणके अनुरूप त्रिविध श्रद्धाका विवेचन करते हुए श्रद्धाके अनुरूप ही निष्ठा बतलायी है। चौथेमें श्रद्धेय वस्तुके अनुसार तीनों प्रकारके पूजकोंकी निष्ठाका निर्णय करके पाँचवें-छठेमें आसुरी स्वभाववालोंके घोर तपका वर्णन किया है।

सातवेंमें त्रिविध आहार, यज्ञ, तप, दानका भेद सुननेकी आज्ञा और आठवेंसे दसवेंतक सात्त्विक, राजस, तामस आहारका वर्णन करके निष्ठावान्की परीक्षा बतलायी है। उसके बाद ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक त्रिविध यज्ञके लक्षण, चौदहवेंसे सत्रहवेंतक मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले सात्त्विक तपका वर्णन, अठारहवें-उन्नीसवेंमें राजस, तामस तपके लक्षण और बीसवेंसे बाईसवेंतक त्रिविध दानके लक्षण बतलाये हैं। तेईसवेंमें यज्ञ, दान, तपका अङ्ग-वैगुण्य मिटानेके लिये भगवान्के नाम—'ॐ, तत्, सत्'की महिमा कहकर चौबीसवेंमें 'ॐ' की, पचीसवेंमें 'तत्' की, छब्बीसवें-सत्ताईसवेंमें 'सत्' की

व्याख्या की है। अट्ठाईसवेंमें श्रद्धारहित समस्त कर्मोंको असत् बताते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

अष्टादश अध्याय

मोक्षसंन्यासयोग

यहाँतक दो निष्ठाओंका वर्णन कई बार किया गया। उन दोनोंका स्वरूप पृथक्-पृथक् बतानेके लिये अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसका उत्तर देते हुए अठारहवाँ अध्याय कहा गया है। इसमें सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंका विवेचन करते हुए अन्तमें मोक्षरूप परमात्मामें सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास (समर्पण) करनेका वर्णन होनेके कारण इस अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' रक्खा गया है।

इस अध्यायमें अठहत्तर श्लोक हैं। सात प्रकरण हैं। पहला प्रकरण पहलेसे बारहवेंतक बारह श्लोकोंका है जिसमें त्यागका विषय है। दूसरा, तेरहवेंसे अठारहवेंतक छः श्लोकोंका है जिसमें कर्मोंके होनेमें सांख्यसिद्धान्तका कथन है। तीसरा, उन्नीसवेंसे चालीसवेंतक बाईस श्लोकोंका है जिसमें तीनों गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके पृथक्-पृथक् भेद हैं। चौथा, इकतालीसवेंसे अड़तालीसवेंतक आठ श्लोकोंका है जिसमें फलसहित वर्णधर्मका विषय है। पाँचवाँ, उनचासवेंसे पचपनवेंतक सात श्लोकोंका है जिसमें ज्ञाननिष्ठाका विषय है। छठा, छप्पनवेंसे छाछठवेंतक ग्यारह श्लोकोंका है जिसमें भक्तिप्रधान कर्मयोगका

विषय है और सातवाँ, सड़सठवेंसे अठहत्तरवेंतक बारह श्लोकोंका है जिसमें श्रीगीताजीका माहात्म्य है।

इस अध्यायके दो भाग कर लेने चाहिये। पहला भाग उन्‌चालीस श्लोकोंका है। उसमे तीन-तीन श्लोकोंका एक-एक प्रकरण है। इस प्रकार कुल तेरह प्रकरण हैं। उनमे पहलेसे तीसरे श्लोक तक संन्यास और त्यागके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने इस विषयमे दूसरोंके चार मतोंका वर्णन किया है। चौथेमें भगवान्‌ने त्यागके विषयमे अपना निश्चय सुननेकी आज्ञा देते हुए उसे तीन प्रकारका बतलाकर पाँचवें-छठेमें त्यागका विवेचन किया है। सातवेंसे नवेंतक तामस, राजस, सात्त्विक त्यागका क्रमशः वर्णन करके दसवेंसे बारहवेंतक त्यागीके लक्षण और उनके कर्मफलसे मुक्त रहनेकी बात कही है। यहाँतक त्यागका प्रकरण है।

तेरहवेंसे पंद्रहवेंतक संन्यासका प्रकरण आरम्भ करते हुए सांख्य-सिद्धान्तसे कर्मोंके होनेमें पाँच हेतुओंका—सोलहवेंसे अठारहवेंतक आत्माके अकर्तृत्वका, अकर्ता न समझनेवालेकी निन्दाका, समझनेवालेकी प्रशंसाका और कर्मप्रेरणा तथा कर्मसंग्रहका वर्णन किया है।

उन्नीसवें, उन्तीसवे और छत्तीसवें—इन तीनोंमें आगे कहे जानेवाले विषयको सुननेकी आज्ञा है, जिनमेंसे उन्नीसवेंमें ज्ञान, कर्म, कर्ता; उन्तीसवेंमें बुद्धि और धृति तथा छत्तीसवेंके पूर्वार्धमें सुखके तीनों गुणोंके अनुसार तीन-तीन भेद सुननेकी आज्ञा है। बीसवेंसे बाईसवेंतक सात्त्विक, राजस, तामस—त्रिविध ज्ञानके लक्षण, तेईसवेंसे

पचीसवेंतक त्रिविध कर्मके, छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतक त्रिविध कर्त्ताके, तीसवेंसे बत्तीसवेंतक त्रिविध बुद्धिके, तैंतीसवेंसे पैंतीसवेंतक त्रिविध धृतिके, छत्तीसवेंके उत्तरार्ध और सैंतीसवेंमें सात्त्विक, अड़तीसवेंमें राजस, उन्‌चालीसवेंमें तामस सुखके लक्षण बतलाये हैं। चालीसवेंमें त्रिलोकीके सम्पूर्ण पदार्थोंको त्रिगुणात्मक बताते हुए उन्नीसवेंसे उन्‌चालीसवेंतकके गुणोंके प्रकरणका उपसंहार किया है।

इकतालीसवेंमें वर्णधर्मका उपक्रम करके बयालीसवेंमें ब्राह्मणके नौ, तैंतालीसवेंमें क्षत्रियके सात, चौवालीसवेंमें वैश्यके तीन और शूद्रके एक स्वाभाविक कर्मका कथन है। पैंतालीसवेंमें वर्णधर्मके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेकी विधि सुननेकी आज्ञा और छियालीसवेंमें उनकी विधि बतलाते हुए सैंतालीसवें-अड़तालीसवेंमें वर्णधर्मके पालनकी प्रशंसा और उसके त्यागका निषेध करके स्वधर्मपालनपर जोर दिया है। उन्‌चासवेंमें सांख्ययोगसे नैष्कर्म्य-सिद्धिकी प्राप्ति बतलाकर पचासवेंमें सिद्धिप्राप्त पुरुषको ब्रह्मप्राप्तिका प्रकार समझनेके लिये आज्ञा की है। और इक्यावनवेंसे तिरपनवेंतक सांख्ययोगके साधनोंका वर्णन करके चौवनवें-पचपनवेंमें पराभक्ति-की प्राप्ति और उससे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी है।

छप्पनवेंमें भगवान्‌के आश्रयसे सर्वकर्म करते हुए भी भगवत्प्राप्ति होनेकी बात बतलाकर सत्तावनवें-अट्ठावनवेंमें भगवान्‌का आश्रय लेकर कर्मयोग करनेके लिये आज्ञा और उसको न माननेमें

हानिका तथा उनसठवें-साठवेंमें प्रकृतिकी प्रबलताका निरूपण है। इकसठवेंमें ईश्वरको सबके हृदयमें स्थित और सबका प्रेरक बतलाकर बासठवेंमें उसकी शरण लेनेके लिये कहा है। और तिरसठवेंमे एक बार उपदेशका उपसंहार किया है। इसके बाद चौसठवेंमें अत्यन्त दयालुताके कारण पुन. गीताका सार सुननेकी आज्ञा करके पैसठवें-छाछठवेंमें साररूप अनन्य शरणागतिका वर्णन करते हुए गीता-शास्त्रका उपसंहार किया है।

सड़सठवेंमें गीताके अनधिकारीका, अड़सठवें-उनहत्तरवेंमें गीताका कथन करनेवाले प्रचारककी महिमाका, सत्तरवेंमें पढ़नेवालेकी महिमाका वर्णन करके इकहत्तरवेमे सुननेवालेको भी कल्याण-प्राप्तिकी बात कही है। बहत्तरवेंमें अर्जुनने एकाग्रचित्तसे गीता सुनी या नहीं और उसका अज्ञान नष्ट हुआ या नहीं—इस विषयमें भगवान्‌का प्रश्न है। तिहत्तरवेंमें अज्ञान नष्ट होनेकी और भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेकी अर्जुनकी स्वीकृति है। चौहत्तरवें-पचहत्तरवेंमे श्रीकृष्णार्जुनके संवादकी महिमा व्यक्त करते हुए छिहत्तरवें-सतहत्तरवेंमें उस संवाद और अद्भुत रूपको स्मरण करके सञ्जयके हर्षित होनेकी बात कही गयी है तथा अठहत्तरवेंमें सञ्जयने अपनी सम्मतिमें श्रीकृष्णार्जुनका प्रभाव बतलाते हुए धृतराष्ट्रके प्रश्नका उत्तर समाप्त किया है।

गीताप्रतिपादित कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोगका स्वरूप

यद्यपि गीताके तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें ज्ञानयोग और कर्मयोग—निष्ठाएँ दो ही मानी गयी हैं; किंतु वह कथन कर्मयोगमें भक्तिको सम्मिलित मानकर ही है। तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें स्पष्ट ही ध्यान (भक्ति) योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग—ये तीन साधन बतलाये गये हैं। श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌ने भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(११। २०। ६)

संक्षेपमें इन तीनोंका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—

कर्मयोग

सिद्धि और असिद्धिमें सम रहते हुए फल और आसक्तिका त्याग करके शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको केवल कर्तव्य समझकर करना 'कर्मप्रधान कर्मयोग' है (देखिये गीता अ० २ श्लोक ४७से५३; अ० १८ श्लोक ४ से १२ आदि-आदि)। वही कर्तव्य-कर्म जब भगवदाज्ञासे और भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाता है तब भक्ति-मिश्रित कर्मयोग कहलाता है।

भक्तियोग

अपने-आपको और सब संसारको भगवान्‌का समझकर नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करते हुए भगवन्नामका निरन्तर जप करते रहना, उनकी आज्ञाका पालन करना और उनके विधानमें प्रसन्न रहना 'भक्तियोग' है (देखिये गीता अ० ३ श्लोक ३०; अ० १२ श्लोक ६-७; अ० ११ श्लोक ५५; अ० १८ श्लोक ५६ से ६६ आदि-आदि)।

ज्ञानयोग

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति-पुरुषके विवेकद्वारा प्राकृत पदार्थ, क्रिया आदिसे अपनेको सर्वथा असङ्ग समझना और इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं, सारी क्रियाएँ केवल प्रकृतिके द्वारा ही हो रही हैं, गुणोंके सिवा कोई कर्ता नहीं है—इस प्रकार समझकर अपने स्वरूपको गुणों, कर्मों और पदार्थोंसे सर्वथा निर्लिप्त अनुभव करना तथा परमात्माके साथ अभिन्नभावसे नित्य-निरन्तर स्थित रहना—'ज्ञानयोग' है (देखिये गीता अ० ५ श्लोक ८-९, १३, १७ से २१, २४-२५; अ० १३ श्लोक २६ से ३४; अ० १८ श्लोक ४९ से ५५ आदि-आदि)।

(१) योग नाम है समताका। कर्तव्य-कर्म करते हुए अन्तः-करणको निर्विकार रखना कर्मयोगकी समता है। भगवच्चिन्तन करते हुए भगवान्‌के विधानमे संतुष्ट होकर निर्विकार रहना भक्तियोगकी समता है। आत्मस्वरूपके विचारपूर्वक एक सच्चिदानन्द परमात्माकी ही सत्ता समझते हुए निर्विकार रहना ज्ञानयोगकी समता है।

(२) कर्मयोगमें सिद्धि और असिद्धिमें समभाव होकर अन्तः-करणकी समता होती है। भक्तियोगमें सर्वत्र भगवद्बुद्धि होकर व्यवहारकी समता होती है। ज्ञानयोगमें एक परमात्मतत्त्वका ज्ञान होकर स्वरूपकी समता होती है।

(३) कर्मयोगमे बुद्धिकी एकाग्रता है। भक्तियोगमें प्रेमपूर्वक मनकी एकाग्रता है। ज्ञानयोगमें विचारपूर्वक स्वरूपमें स्थिति है।

(४) कर्मयोगमें मन, बुद्धि, अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीरको जगत्का समझा जाता है, अतः कर्मयोगीके कर्म होते हैं सेवाभावसे। भक्तियोगमें मन, बुद्धि, अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीरको भगवान्का समझा जाता है, अतः भक्तियोगीके कर्म होते हैं भगवान्की प्रसन्नताके लिये। ज्ञानयोगमें मन, बुद्धि, अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीरको मायामय, प्रकृतिका समझा जाता है; अतः ज्ञानयोगीके कर्म होते हैं निरहंकारतापूर्वक स्वभावसे।

(५) कर्मयोगीके श्रद्धा-विश्वास होते हैं कर्तव्यकर्म और फलत्यागपर। भक्तियोगीके श्रद्धा-विश्वास होते हैं भगवान्पर। ज्ञानयोगीके श्रद्धा-विश्वास होते हैं अपने तात्त्विक स्वरूपपर।

(६) कर्मयोगमें प्रवृत्ति होती है फलभोगसे उकतानेपर। भक्तियोगमें प्रवृत्ति होती है प्रभुविमुखताका दुःख होनेपर। ज्ञान-योगमें प्रवृत्ति होती है संसारमात्रको दुःखरूप देखनेपर।

(७) प्रायः तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—क्रियाप्रधान, भावप्रधान, विचारप्रधान। क्रियाप्रधानवाले मनुष्य कर्मयोगके अधिकारी हैं। भावप्रधानवाले मनुष्य भक्तियोगके अधिकारी हैं। विचारप्रधानवाले मनुष्य ज्ञानयोगके अधिकारी हैं।

(८) कर्मयोगसे सिद्धि चाहनेवालेके लिये कर्तव्यकर्मकी प्रधानता है। भक्तियोगसे सिद्धि चाहनेवालेके लिये भगवान्‌में ममता और शरणागतिकी प्रधानता है। ज्ञानयोगसे सिद्धि चाहनेवालेके लिये निर्ममता और निरहंकारताकी प्रधानता है। अथवा यों कहें कि कर्मयोगमें स्थूलशरीरकी अर्थात् कर्मकी प्रधानता है। भक्तियोगमें सूक्ष्मशरीरकी अर्थात् भावकी प्रधानता है। ज्ञानयोगमें कारणशरीरकी अर्थात् स्थिरताकी प्रधानता है।

(९) कर्मयोगमें कर्मफलकी अनाश्रयता है। भक्तियोगमें भगवान्‌की आश्रयता है। ज्ञानयोगमें निराश्रयता है।

(१०) कर्मयोगमें स्वार्थका त्याग है। भक्तियोगमें ममताका त्याग है। ज्ञानयोगमें अहंकारका त्याग है।

(११) क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये कर्मयोग है। संसारका आकर्षण हटाकर भगवान्‌में लगनेके लिये भक्तियोग है। सर्वथा आकर्षण हटाकर अपने स्वरूपमें लगनेके लिये ज्ञानयोग है।

(१२) कर्मयोगके साधनमें काम-क्रोधादि वेग शान्त होते हैं स्वार्थ और ममताके त्यागपूर्वक दूसरोंकी सेवामें तत्पर होनेसे। भक्तियोगके साधनमें काम-क्रोधादि वेग शान्त होते हैं सर्वत्र भगवद्भाव करनेसे और 'हे नाथ! हे नाथ!!' यों भगवान्‌को पुकारनेसे। ज्ञानयोगके साधनमें काम-क्रोधादि वेग शान्त होते हैं पूरा गहरा विचार करनेसे और सर्वत्र ब्रह्मभाव होनेसे।

(१३) कर्मयोगी अपनेको सब संसारका मानकर भयरहित होता है। भक्तियोगी अपनेको भगवान्‌का मानकर भयरहित होता

है। ज्ञानयोगी एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके सिवा किसीकी सत्ता न मानकर भयरहित होता है।

(१४) कर्मयोगी जगत्‌की सेवा करता है। भक्तियोगी भगवान्‌की पूजा करता है। ज्ञानयोगी सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

(१५) सांसारिक दुःखों और विकारोंसे छुटकारा सभीको प्रिय होते हुए भी कर्मयोगीको स्वार्थत्यागपूर्वक दूसरोंकी सेवा विशेष प्रिय होती है। भक्तियोगीको भगवान् विशेष प्रिय होते हैं। ज्ञान-योगीको अपना स्वरूप विशेष प्रिय होता है।

(१६) कर्मयोगी सुख-दुःखकी प्राप्तिका कारण कर्मफलको मानता है। भक्तियोगी सुख-दुःखकी प्राप्तिको भगवान्‌का विधान मानता है। ज्ञानयोगी सुख-दुःखको मायामय (प्रतीतिमात्र) मानता है।

(१७) कर्मयोगसे शान्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तियोगसे प्रेमकी प्राप्ति होती है। ज्ञानयोगसे बोधकी प्राप्ति होती है।

(१८) कर्मयोगसे कृतकृत्यता होती है। भक्तियोगसे प्राप्त-प्राप्तव्यता होती है। ज्ञानयोगसे ज्ञातज्ञातव्यता होती है।

गीताका उद्देश्य जीवको संसारसे छुड़ाकर परमात्माको प्राप्त करानेमें है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग किसीका आग्रह नहीं है। इसलिये किसी एकका आग्रह न करके तीनोंमेंसे किसी एकका भी आदरपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो उस एक साधनके करनेपर भी उसमें उपर्युक्त तीनों बातें आ जाती हैं; किंतु यदि किसी एकका आग्रह हो तो ये तीनों प्राप्त न होकर एक-एक ही प्राप्त होती हैं।



गीतामें 'उवाच'

अध्याय	धृतराष्ट्र	सञ्जय	अर्जुन	श्रीभगवान्
१	१	३	२	×
२	×	२	२	३
३	×	×	२	२
४	×	×	१	२
५	×	×	१	१
६	×	×	२	३
७	×	×	×	१
८	×	×	१	१
९	×	×	×	१
१०	×	×	१	२
११	×	३	४	४
१२	×	×	१	१
१३	×	×	×	१
१४	×	×	१	२
१५	×	×	×	१
१६	×	×	×	१
१७	×	×	१	१
१८	×	१	२	१
	१	९	२१	२८

प्रथम अध्यायके तीसरे श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक जो दुर्योधनके वचन हैं, उनके लिये किन्हीं टीकाकार सज्जनने लिखा है कि तीसरे श्लोकके पूर्व 'दुर्योधन उवाच' न देना प्रमाद है, किंतु श्रीवेदव्यासजीकी वाणीको प्रमादयुक्त कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दुर्योधनके वचन 'सञ्जय उवाच' के ही अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार प्रथम अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भगवान्‌का जो 'उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति' वचन है वह भी 'सञ्जय उवाच' के ही अन्तर्गत है। दूसरे अध्यायके नवें श्लोकमें 'न योत्स्ये' यह अर्जुनका वचन 'सञ्जय उवाच' के अन्तर्गत है। यह तो गीताकी शैली है। जैसे, तीसरे अध्यायके दसवेंसे बारहवेंतकके तीन श्लोकोंमें—

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

इतने वचन प्रजापति ब्रह्माके हैं, किंतु वे श्रीभगवान्‌के वचनोंके ही अन्तर्गत हैं; इसीलिये वहाँ 'प्रजापतिरुवाच' नहीं दिया गया है। पंद्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' यह साधकका कथन श्रीभगवान्‌के वचनके अन्तर्गत है। तथा कहीं-कहीं श्लोकमें 'उवाच मधुसूदनः' (२ । १), 'तमुवाच हृषीकेशः' (२ । १०) कह देनेपर भी 'श्रीभगवानुवाच' पुनः कहा गया है। यह भी गीताकी शैली है।

अठारहवें अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कहा 'संवादमावयोः' और इसी अध्यायके चौहत्तरवें और छिहत्तरवें श्लोकोंमें सञ्जयके वचन है--'वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः संवादमिममश्रौषम्' 'संवादमिममद्भुतम् केशवार्जुनयोः' । सम्पूर्ण महाभारत श्रीवैशम्पायन और जनमेजयका संवाद है, उसमेंसे गीतामें सञ्जय और धृतराष्ट्रका संवाद है जिसमें सञ्जय श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सुना रहे हैं, न कि दुर्योधन आदिका । इस प्रकार गीतामें संवाद दो ही हैं—एक धृतराष्ट्र और सञ्जयका तथा दूसरा श्रीकृष्ण और अर्जुनका । प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका है उसमें भी 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे' है । इसीलिये 'दुर्योधन उवाच' नहीं दिया गया है । सञ्जयने धृतराष्ट्रको इसे सुनाया है । अतः इसमें धृतराष्ट्र और सञ्जयके वचनोंको 'धृतराष्ट्र उवाच', 'सञ्जय उवाच' देकर पृथक् दिखाया गया है ।



गीता-श्रवणके समय अर्जुनद्वारा किये गये अट्ठाईस प्रश्नोंके स्थल

अध्याय	श्लोक	प्रश्न
२	५४	४
३	१-२	१
३	३६	१
४	४	१
५	१	१
६	३३-३४	१
६	३७-३८-३९	२
८	१	५
८	२	२
१०	१७	२
११	३१	२
१२	१	१
१४	२१	३
१७	१	१
१८	१	१
		कुल २८ प्रश्न

गीताभ्यासकी विधि

क—कण्ठस्थ याद् करनेके लिये—

(१) नित्य अठारह, नौ या छः अध्यायोका नियमसे पाठ करें ।

(२) छोटे बच्चे श्लोककी वार-वार आवृत्ति करके रटें ।

(३) बडी अवस्थावाले व्यक्ति श्लोकोंके पदच्छेद, अर्थ और भावको पहले ध्यानमे लाकर फिर श्लोकोंकी आवृत्ति करें ।

(४) पाठ करनेमे श्लोकोंका वाणीद्वारा उच्च स्वरसे स्पष्ट उच्चारण करें ।

(५) जितने अध्याय कण्ठस्थ हो जायँ, उनका कण्ठस्थ यानी पुस्तक देखे बिना पाठ करें ।

ख—श्लोक-संख्या याद् करनेके लिये—

(६) जो अध्याय कण्ठस्थ हो जाय, उसका पुस्तक देखे बिना उल्टा पाठ करें अर्थात् बारहवें अध्यायका पाठ करना है तो पहले बीसवॉ श्लोक, फिर उन्नीसवॉं, फिर अठारहवॉ—इस प्रकार पहले श्लोकतक पाठ करें ।

(७) जो अध्याय कण्ठस्थ हो, उसका पुस्तक देखे बिना संख्याके सहित केवल प्रतीकमात्रका आनुपूर्वी पाठ करे अर्थात् बारहवें अध्यायका पाठ इस प्रकार करे कि पहला श्लोक—एव सततयुक्ता: दूसरा—मय्यावेश्य, तीसरा—ये त्वक्षरम्—इत्यादि ।

(८) जो अध्याय कण्ठस्थ हो, उसका पुस्तकपर इस प्रकार पाठ करें—पहला श्लोक यह है, पाँचवाँ यह है, दसवाँ यह है—इस प्रकार पाँच-पाँचके अन्तरसे अध्यायका पूरा पाठ कर जायँ। उसके बाद पुस्तक देखे बिना कण्ठस्थ क्रमशः पाठ करते हुए पहला श्लोक यह है, दूसरा यह है, तीसरा यह है—इस प्रकार बोलते हुए पाठ करें। इससे पाँच-पाँचके अन्तरसे पाठ किये जानेमें कोई भूल रही होगी तो वह इस बारके आनुपूर्वी पाठ करनेपर पाँचवीं, दसवीं संख्यावाले श्लोकके पाठपर पकड़ी जा सकती है।

(९) सम्पूर्ण गीता याद कर लेनेपर प्रत्येक अध्यायके पहले-पहले श्लोकोंका उच्चारण करते हुए अठारहो अध्यायोंके पहले श्लोकोका पाठ कर लें; फिर दूसरे श्लोकोका, फिर तीसरेका—इस प्रकार प्रत्येक बारमें अठारह-अठारह श्लोकोंका पाठ करते हुए सम्पूर्ण गीताका पाठ करें।

(१०) गीताके प्रधान विषयको याद कर लें। उसमें प्रत्येक प्रधान विषयके साथ दो श्लोकोंकी संख्या याद हो जायगी। जैसे बारहवें अध्यायमें 'पहलेसे बारहवेंतक साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय और भगवत्प्राप्तिके उपायका विषय' है। इसको याद करनेसे पहले और बारहवें श्लोककी संख्या याद हो जायगी; उसके बाद यह देखे कि निर्णय किस-किसमें है, भगवत्प्राप्तिके उपाय किस-किसमें हैं। इस

प्रकार अवान्तर विषयोंके आधारपर बारहो श्लोकोंकी संख्या याद कर लें। यह अर्थ और विषयसहित श्लोक-संख्या याद करनेका अच्छा प्रकार है।

(११) इसी पुस्तकमें पूर्वमें दिये हुए 'गीताके सक्षिप्त विषय' पर उल्टा पाठ करें अर्थात् बारहवें अध्यायका पाठ करते समय अन्तिम बीसवें श्लोकका संक्षिप्त विषय देखते हुए कण्ठस्थ बीसवाँ श्लोक उच्चारण करें और श्लोकके अर्थको संक्षिप्त विषयसे मनसे मिलावें; इस प्रकार पूरे अध्यायका पाठ करें। पूरी गीता याद हो जानेपर यदि पाँच बार भी इस प्रकार 'संक्षिप्त' विषयपर मूल गीताके श्लोक देखे बिना ही 'यत्र योगेश्वरः' से 'धर्मक्षेत्रे' तक अर्थका मिलान करते हुए उल्टा पाठ कर लें तो इससे सम्पूर्ण गीताके भाव, अर्थ, विषय और श्लोक-संख्याका अच्छा मनन हो सकता है।

(१२) दो या अधिक गीताभ्यासी व्यक्ति मिलकर आपसमें पूछ-ताछ करते हुए संख्या, अर्थ और भावोंका मनन करें।

(१३) आगे दी हुई गीताकी श्लोक-संख्याकी 'तालिका'के आधारपर कण्ठस्थ पाठ करें।

ग—अर्थ और भावोंके मननके लिये—

(१४) पाठ करते समय पहले श्लोकके अर्थका पाठ करके फिर उसी मूल श्लोकका पाठ शब्दार्थपर ध्यान देते हुए करें।

(१५) गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-तत्त्वविवेचनी'के आधारपर अर्थ और भावोंका मनन करें। यथा—

(१) प्रत्येक अध्यायके नामका कारणसहित मनन करें।

(२) अध्यायोंके सम्बन्धका मनन करे।

(३) प्रत्येक श्लोकसे दूसरे श्लोकके सम्बन्धका मनन करें।

(४) श्लोकके किस-किस पदपर प्रश्न हैं ? श्लोकमें कितने प्रश्न हैं ? और उनके उत्तरका क्या भाव है ? इन बातोंका मनन करे।

(१६) सम्पूर्ण गीताके मुख्य-मुख्य विषयोंका मनन करें। जैसे—निष्काम कर्म, सकाम कर्मके श्लोक कौन-कौन हैं ? देवोपासना, भगवदुपासनाका कहाँ-कहाँ वर्णन है ? साधनके उपाय कहाँ हैं ? सिद्धके लक्षण किन श्लोकोंमें हैं ? जीवोंकी गति और गुणोंकी पहचान कहाँ बतलायी गयी है—इत्यादि।

घ—गीताका सर्वतोमुखी मनन करनेके लिये—

(१७) गीतापर पूर्वापरकी संगति बतलाते हुए श्रद्धालु श्रोताओंमें प्रवचन करें।

ङ—गीतामय जीवन बनानेके लिये—

(१८) गीताके सिद्धान्तोंको आचरणमें लाते हुए अठारहवें अध्यायके अड़सठवें-उनहत्तरवें श्लोकोंके अनुसार गीतागायकका अत्यन्त प्रेमी बन जानेका प्रयत्न करें!

गीता कण्ठस्थ रहनेके लिये तालिका

अध्याय	श्लोक-संख्या					
	९	१	१४	११	१६	१३
	८	५	३	७	१९	१२
	१७	६	२	१०	४	१५
१२, १५	—	—	—	—	१८	२०
१६	—	—	२३	२२	२१	२४
१४	—	—	—	२६	२५	२७
८, १७	—	—	—	—	—	२८
५	—	—	—	—	—	२९
७	—	—	—	—	—	३०
९, १३	—	—	३१	३३	३२	३४
	३८	३५	३९	३६	४०	३७
४, १०	—	—	—	—	४१	४२
३	—	—	—	—	—	४३
१, ६	—	—	४४	४६	४५	४७
	५१	४८	५४	५२	५०	५३
११	—	—	—	—	४९	५५
	६०	५६	६३	६८	७१	५७
	६७	६२	५८	७०	६६	५९
२	—	६५	६९	६१	६४	७२
१८	७६	७३	७७	७५	७४	७८

सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ हो जानेपर गीताके श्लोक-संख्या-सहित सदा ठीक याद रहें—इसके लिये उपर्युक्त तालिकापर अभ्यास करना चाहिये। इसमें १ से लेकर ७८ तकके अङ्क

दिये गये हैं। बायीं ओर अध्याय हैं। तालिकामें जो-जो अध्याय जहाँ लिखे गये हैं, दायीं ओर वहाँतक उनके श्लोकोंकी संख्या पूरी हो जाती है। श्लोक-संख्याके अङ्कोंको बिना क्रमसे रखा गया है। आप स्वयं प्रश्न करें—गीताके बारहवें अध्यायका ९वाँ श्लोक कौन-सा है? फिर उस श्लोकको स्मरण करें, स्मरण न आये तो पुस्तक देख लें और इस तरह ध्यानमें ले आयें कि वह दूसरे दिन भूलने न पाये। पुनः उसी अध्यायके १, १४, ११, १६, १२, ८, ५, ३ आदि संख्यावाले श्लोकोंको स्मरण करें।

ऊपर तालिकामें दिये हुए क्रमसे २०वीं संख्यातकके श्लोकोको कण्ठस्थ स्मरण करनेपर गीताका बारहवें अध्यायका पाठ पूरा हो जायगा; क्योंकि इस अध्यायमें २० ही श्लोक हैं। पुनः इसी क्रमसे पंद्रहवें अध्यायके श्लोकोको २०वीं संख्यातक कण्ठस्थ स्मरण करनेपर १५वें अध्यायका भी पाठ पूरा हो जायगा; इस अध्यायमें भी २० ही श्लोक हैं। पुनः इसी क्रमसे सोलहवें अध्यायके श्लोकोको २४ वीं संख्यातक कण्ठस्थ स्मरण कर लेनेपर १६ वें अध्यायका पाठ पूरा हो जायगा; क्योंकि इसमें २४ ही श्लोक हैं। इसी क्रमसे इन्हीं अङ्कोंके श्लोकोंको कण्ठस्थ स्मरण करते हुए २७वीं संख्यातक पहुँचनेपर चौदहवें अध्यायका, २८वीं संख्यातक पहुँचनेपर आठवें और सत्रहवें अध्यायोका, २९वीं संख्यातक पहुँचनेपर पाँचवें अध्यायका,

३०वीं संख्यातक पहुँचनेपर सातवें अध्यायका, ३४वीं संख्यातक पहुँचनेपर नवें और तेरहवें अध्यायोका, ४२वीं संख्यातक पहुँचनेपर चौथे और दसवें अध्यायोका, ४३वीं संख्यातक पहुँचनेपर तीसरे अध्यायका, ४७वीं संख्यातक पहुँचनेपर पहले और छठे अध्यायोका, ५५वीं संख्यातक पहुँचनेपर ग्यारहवें अध्यायका, ७२वीं संख्यातक पहुँचनेपर दूसरे अध्यायका एवं ७८वीं संख्यातक पहुँचनेपर अठारहवें अध्यायका पाठ पूरा हो जायगा। कुछ दिनोतक इस क्रमसे अभ्यास करनेपर सम्पूर्ण गीता श्लोक-संख्यासहित कण्ठस्थ हो सकती है और फिर उसमें भूल होना सम्भव नहीं।



गीतामें श्रीभगवान्‌के चालीस सम्बोधनात्मक नाम और उनके अर्थ

[श्रीमद्भगवद्गीतामें कुल २४९ सम्बोधनात्मक पद हैं, जिनमें भगवान् श्रीकृष्णके लिये ७६, अर्जुनके लिये १६२, सञ्जयके लिये १, धृतराष्ट्रके लिये ८ और द्रोणाचार्यके लिये २ हैं।]

१ अच्युत=अपने स्वरूपसे अस्खलित अर्थात् अपनी महिमामें नित्य स्थित। १। २१; ११। ४२; १८। ७३) =३

२ अनन्त=सीमारहित। (११। ३७) =१

३ अनन्तरूप=अनन्त रूपवाले। (११। ३८) =१

४ अनन्तवीर्य=अनन्त सामर्थ्यवाले। (११। ४०) =१

५ अप्रतिमप्रभाव=अतुलनीय प्रभाववाले। (११। ४३) =१

६ अरिसूदन=शत्रुओंका संहार करनेवाले। (२। ४) =१

७ कमलपत्राक्ष=कमलपत्रके सदृश नेत्रोंवाले। (११। २) =१

८ कृष्ण-श्रीकृष्ण (श्यामसुन्दर)। १ (२८, ३२, ४१; ५। १; ६। ३४, ३७, ३९; ११। ४१, १७। १) =९

९ केशव=क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शंकर—ये तीनों जिनके व=वपु अर्थात् स्वरूप हैं, वे केशव हैं। (१। ३१; २। ५४; ३। १०; १०। १४) =४

१० केशिनिषूदन=केशि नामक दैत्यको मारनेवाले । (१८ । १) =१

११ गोविन्द=वेदवाणीके द्वारा जिनके स्वरूपकी प्राप्ति हो, वे 'गोविन्द' हैं । (१ । ३२) =१

१२ जगत्पते=समस्त संसारके स्वामी । (१० । १५) =१

१३ जगन्निवास=सम्पूर्ण जगत्के आश्रय । (११ । २५, ३७, ४५)=३

१४ जनार्दन=अपने मनोवाञ्छित फलोंकी सिद्धिके लिये सब लोग जिनसे याचना करते हैं, वे 'जनार्दन' हैं । (१ । ३६, ३९, ४४; ३ । १; १० । १८; ११ । ५१) =६

१५ देव=प्रकाशमान विभु । (११ । १५, ४४) =२

१६ देवदेव=देवताओंके भी स्वामी । (१० । १५) =१

१७ देववर=देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ । (११ । ३१) =१

१८ देवेश=देवताओंके प्रभु । (११ । २५, ३७, ४५) =३

१९ परमेश्वर=सर्वोपरि सर्वैश्वर्यवान् स्वामी । (११ । ३) =१

२० पुरुषोत्तम=समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ । (८ । १; १० । १५; ११ । ३) =३

२१ प्रभो=सर्वसमर्थ । (११ । ४; १४ । २१) =२

२२ भगवन्=सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्यरूप छः दिव्य लक्षणोंसे सर्वदा सम्पन्न । (१० । १४, १७)=२

२३ भूतभावन=सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले । (१० ।१५)=१

२४ भूतेश=समस्त प्राणियोंके स्वामी । (१० । १५) =१

२५ मधुसूदन=मधु नामक दैत्यको मारनेवाले । (१ । ३५; २ । ४; ६ । ३३; ८ । २) =४

२६ महात्मन्=महान् आत्मा है जिनकी, वे 'महात्मा' हैं । (११ । २०; ३७) =२

२७ महाबाहो=विशाल भुजाओंवाले । (६।३८; ११।२३; १८ । १)=३

२८ माधव=मा=लक्ष्मी, धव=पति, अर्थात् लक्ष्मी-पति। (१ । ३७)=१
२९ यादव=यदुवंशमें अवतार लेनेवाले। (११ । ४१) =१
३० योगिन्=स्वाभाविक ही सम्पूर्ण योगोंसे सदा सम्पन्न।
(१० । १७) =१
३१ योगेश्वर=सब प्रकारके योगोंके स्वामी। (११ । ४) =१
३२ वार्ष्णेय=वृष्णिवंशमें अवतार लेनेवाले। (१ । ४१; ३ । ३६)=२
३३ विश्वमूर्ते-विश्व जिनकी मूर्ति है, ऐसे विराट्-स्वरूप। (११।४६)=१
३४ विश्वरूप=सम्पूर्ण संसार जिनका रूप है ऐसे विराट्-स्वरूप।
(११ । १६) =१
३५ विश्वेश्वर=समस्त संसारके स्वामी। (११ । १६) =१
३६ विष्णो=सर्वव्यापक। (११ । २४; ३०) =२
३७ सखे=मित्र। (११ । ४१) =१
३८ सर्व=सर्वरूप। (११ । ४०) =१
३९ सहस्रबाहो=हजारों भुजाओंवाले। (११ । ४६) =१
४० हृषीकेश=हृषीक=इन्द्रियाँ, ईश=स्वामी, अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी अन्तर्यामी प्रभु। (११ । ३६; १८ । १) =२

७६



गीतामें अर्जुनके बाईस सम्बोधनात्मक नाम और उनके अर्थ

१ अनघ=निष्पाप। (३ । ३; १४ । ६; १५ । २०) =३

२ अर्जुन—शुद्ध अन्तःकरणयुक्त। (२ । २, ४५; ३ । ७; ४ । ५, ९, ३७; ६ । १७, ३२, ४६; ७ । १६, २६; ८ । १६, २७; ९ । १९; १० । ३२, ३९, ४२; ११ । ४७, ५४; १८ । ९, ३४, ६१) =२२

३ कुरुनन्दन=कुरुकुलको आनन्द देनेवाला। (२ । ४१; ६ । ४३; १४ । १३) =३

४ कुरुप्रवीर=कुरुवंशमे अतिश्रेष्ठ वीर। (११ । ४८) =१

५ कुरुश्रेष्ठ=कुरुकुलमें श्रेष्ठ। (१० । १९) =१

६ कुरुसत्तम=कुरुकुलमें उत्पन्न उत्तम पुरुष। (४ । ३१) =१

७ कौन्तेय=कुन्तीका पुत्र। (२ । १४, ३७, ६०; ३ । ९, ३९; ५ । २२; ६ । ३५; ७ । ८; ८ । ६, १६; ९ । ७, १०, २३, २७, ३१; १३ । १, ३१; १४ । ४, ७; १६ । २०, २२; १८ । ४८, ५०, ६०) =२४

८ गुडाकेश=निद्राका स्वामी, निद्राजयी या घुँघराले केशोंवाला। (१० । २०; ११ । ७) =२

९ तात=प्रिय। (६ । ४०) =१

१० देहभृतां वर=देहधारियोंमें श्रेष्ठ। (८ । ४) =१

११ धनञ्जय=राजाओंके धनको जीतनेवाला (२ । ४८, ४९; ४ । ४१; ७ । ७; ९ । ९; १२ । ९; १८ । २९, ७२) =८

१२ परंतप=शत्रुको तपानेवाला। (२ । ३; ४ । २, ५, ३३; ७ । २७, ९, ३; १० । ४०; ११ । ५४; १८ । ४१) =९

१३ पाण्डव=पाण्डुका पुत्र। (४ । ३५; ६ । २; ११ । ५५;
१४ । २२; १६ । ५) =५

१४ पार्थ=पृथा यानी कुन्तीका पुत्र। (१ । २५; २ । ३, २१,
३२, ३९, ४२, ५५, ७२; ३ । १६, २२, २३;
४ । ११, ३३; ६ । ४०; ७ । १, १०; ८ । ८, १४,
१९, २२, २७; ९ । १३, ३२; १० । २४; ११ । ५;
१२ । ७; १६ । ४, ६; १७ । २६, २८; १८ । ६, ३०,
३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ७२) =३८

१५ पुरुषर्षभ=पुरुषोंमें श्रेष्ठ। (२ । १५) =१

१६ पुरुषव्याघ्र=पुरुषोंमें सिंहके समान तेजस्वी वीर। (१८ । ४) =१

१७ भरतर्षभ=भरतकुलमे श्रेष्ठ । (३ । ४१; ७ । ११, १६;
८ । २३; १३ । २६; १४ । १२; १८ । ३६) =७

१८ भरतश्रेष्ठ=भरतवंशमें श्रेष्ठ। (१७ । १२) =१

१९ भरतसत्तम=भरतवंशमे अति उत्तम पुरुष। (१८ । ४) =१

२० भारत=भरतवंशमें उत्पन्न। (२ । १४, १८, २८, ३०;
३ । २५; ४ । ७, ४२; ७ । २७; ११ । ६; १३ । २,
३३; १४ । ३, ८, ९, १०; १५ । १९, २०;
१६ । ३; १७ । ३; १८ । ६२) =२०

२१ महाबाहो=बड़ी भुजाओंवाला। (२ । २६, ६८; ३ । २८,
४३; ५ । ३, ६; ६ । ३५; ७ । ५; १० । १;
१४ । ५; १८ । १३) =११

२२ सव्यसाचिन्=बायें हाथसे बाण चलानेमें निपुण।(११। ३३) =१

१६२

गीतामें सञ्जय, धृतराष्ट्र और द्रोणाचार्यके लिये प्रयुक्त सम्बोधन

सञ्जयके लिये सम्बोधन—

१ सञ्जय (१ । १) =१

धृतराष्ट्रके लिये सम्बोधन—

१ परंतप (२ । ९) =१
२ पृथिवीपते (१ । १८) =१
३ भारत (१ । २४; २ । १०) =२
४ महीपते (१ । २१) =१
५ राजन् (११ । ९; १८ । ७६, ७७) =३

८

द्रोणाचार्यके लिये सम्बोधन—

१ आचार्य (१ । ३) =१
२ द्विजोत्तम (१ । ७) =१

२

गीता-पाठके लिये विश्रामस्थल

पाक्षिक पाठ

प्रतिदिन एक अध्यायका पाठ करें। उसमें प्रतिपदासे एकादशीतक एक-एक अध्यायका, द्वादशीको बारहवें और तेरहवें अध्यायका, त्रयोदशीको चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायका, चतुर्दशीको सोलहवें और सत्रहवें अध्यायका तथा अमावस्या और पूर्णिमाको अठारहवें अध्यायका पाठ करें। किसी पक्षमें तिथि-क्षय हो तो सातवें और आठवें अध्यायका एक साथ पाठ कर लें। इसी प्रकार किसी पक्षमें तिथि-वृद्धि हो तो सोलहवें और सत्रहवें—इन दोनों अध्यायोंका अलग-अलग दो दिनमें पाठ कर लें।

चौदह दिनमें पूरा पाठ

(प्रतिदिन ५० श्लोक)

पहले	दिन	दूसरे	अध्यायके	तीसरे	श्लोकतक
दूसरे	,,	,,	,,	तिरपनवें	,,
तीसरे	,,	तीसरे	,,	इकतीसवें	,,
चौथे	,,	चौथे	,,	अड़तीसवें	,,
पाँचवें	,,	छठे	,,	सत्रहवें	,,
छठे	,,	सातवें	,,	बीसवें	,,
सातवें	,,	नवें	,,	बारहवें	,,
आठवें	,,	दसवें	,,	अट्ठाईसवें	,,
नवें	,,	ग्यारहवें	,,	छत्तीसवें	,,
दसवें	,,	तेरहवें	,,	ग्यारहवें	,,
ग्यारहवें	,,	चौदहवें	,,	सत्ताईसवें	,,
बारहवें	,,	सत्रहवें	,,	छठे	,,
तेरहवें	,,	अठारहवें	,,	अट्ठाईसवें	,,
चौदहवें	,,	अठारहवें	,,	अठहत्तरवें	,,

सात दिनमें पूरा पाठ

(प्रतिदिन १०० श्लोक)

पहले	दिन	दूसरे	अध्यायके	तिरपनवें	श्लोकतक
दूसरे	”	चौथे	”	अड़तीसवें	”
तीसरे	”	सातवें	”	बीसवें	”
चौथे	”	दसवें	”	अट्ठाईसवें	”
पाँचवें	”	तेरहवें	”	ग्यारहवें	”
छठे	”	सत्रहवें	”	छठे	”
सातवें	”	अठारहवें	”	अठहत्तरवें	”

तीन दिनमें पूरा पाठ

पहले	दिन	पाँचवें	अध्यायतक	(२३३)	श्लोक
दूसरे	”	ग्यारहवें	”	(२३६)	”
तीसरे	”	अठारहवें	”	(२३१)	”



गीतामें प्रसङ्गानुसार बार-बार आये हुए श्लोकांश

१ अस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् (७ । १०; १० । ३६) =२
२ अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधम् (१६ । १८; १८ । ५३) =२
३ सर्वशः, इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(२ । ५८, ६८) =२
४ कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् (४ । २१; १८ । ४७) =२
५ कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय (४ । ४१; ९ । ९) =२
६ कुलक्षयकृतं दोषम् (१ । ३८, ३९) =२
७ तत्तामससमुदाहृतम् (१७ । १९, २२ । १८ । २२, ३९) =४
८ ततो याति परां गतिम् (६ । ४५; १३ । २८; १६ । २२) =३
९ तथा मानापमानयोः (६ । ७; १२ । १८) =२
१० तस्मात्सर्वेषु कालेषु (८ । ७, २७) =२
११ तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (२ । ५७, ६१) =२
१२ त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् (११ । १८, ३८) =२
१३ दिव्या ह्यात्मविभूतयः (१० । १६, १९) =२
१४ न त्वं शोचितुमर्हसि (२ । २७, ३०) =२
१५ न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम (८ । २१; १५ । ६) =२
१६ न शोचति न काङ्क्षति (१२ । १७; १८ । ५४) =२
१७ नित्ययुक्ता उपासते (९ । १४; १२ । २) =२
१८ निर्ममो निरहङ्कारः (२ । ७१; १२ । १३) =२
१९ परं भावमजानन्तो मम (७ । २४; ९ । ११) =२
२० पश्य मे योगमैश्वरम् (९ । ५; ११ । ८) =२
२१ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च (१६ । ७; १८ । ३०) =२
२२ प्रसीद देवेश जगन्निवास (११ । २५, ४५) =२
२३ ब्रह्मभूयाय कल्पते (१४ । २६; १८ । ५३) =२

२४ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि .... ॥(९।३४; १८।६५)=२
२५ मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ (३।२३;४।११) =२
२६ मय्यर्पितमनोबुद्धिः (८।७;१२।१४) =२
२७ यजन्ते श्रद्धयान्विताः (९ । २३; १७ । १) =२
२८ यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् (४ । १६; ९ । १) =२
२९ यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम् (१८ । ३, ५) =२
३० युक्त आसीत मत्परः(२ । ६१; ६ । १४) =२
३१ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी (६ । १५, २८) =२
३२ येन सर्वमिदं ततम् (२ । १७; ८ । २२; १८ । ४६) =३
३३ यो मद्भक्तः स मे प्रियः (१२ । १४, १६) =२
३४ यः पश्यति स पश्यति (५ । ५; १३ । २७) =२
३५ व्यवसायात्मिका बुद्धिः (२ । ४१, ४४) =२
३६ समलोष्टाश्मकाञ्चनः(६ । ८; १४ । २४) =२
३७ सर्वकर्मफलत्यागम् (१२ । ११; १८ । २) =२
३८ सर्वथा वर्तमानोऽपि (६ । ३१; १३ । २३) =२
३९ सर्वभावेन भारत (१५ । १९; १८ । ६२) =२
४० सर्वभूतहिते रताः (५ । २५; १२ । ४) =२
४१ सर्वारम्भपरित्यागी (१२ । १६; १४ २५) =१
४२ सेनयोरुभयोर्मध्ये (१।२१, २४; २ । १०) =३
४३ शीतोष्णसुखदुःखेषु (६।७; १२ । १८) =२
४४ शृणु मे परमं वचः (१० । १; १८ । ६४) =२
४५ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्॥(३।३५;१८।४७)=२



गीताके फलसहित भगवत्प्राप्तिके उपायविषयक लगभग एक तिहाई श्लोकोंकी संख्या

अध्याय	श्लोक	
२	१७, २०, २१, २४, २५, ३८, ४५, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५५, ५६, ५७, ५८, ६१, ६४, ६८, ७१	=(२०)
३	७, ९, १७, १९, २५, २८, ३०, ३४	=(८)
४	६, ८, ९, १०, ११, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, ३४, ३८, ३९, ४१, ४२	=(२२)
५	२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, १०, ११, १२, १३, १७, १८, १९, २०, २१, २४, २५, २६, २८, २९	=(२१)
६	१, ३, ४, ७, ८, ९, १०, १४, १८, २०, २५, २६, २९, ३०, ३१, ३२, ३५, ४७	=(१८)
७	१, ७, १२, १४, १६, १९, २३, २८, २९, ३०	=(१०)
८	५, ७, ८, ९, १३, १४, २२, २४, २७	=(९)
९	४, ५, ६, ९, १३, १४, १५, १७, १८, १९, २२, २५, २६, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४	=(२०)
१०	३, ८, ९, १०, १२, १५, २०, ३९, ४१, ४२	=(१०)
११	७, ११, १३, १५, १६, १७, १८, १९, २०, ३७, ३८, ३९, ४०, ४३, ४६, ५४, ५५	=(१७)

१२	२, ३, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९	=(१६)
१३	२, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, २२, २४, २५, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३	=(२२)
१४	१९, २०, २२, २३, २४, २५, २६, २७	=(८)
१५	१, ४, ५, १५, १९	=(५)
१६	१, २, ३	=(३)
१७	११, १६, २०, २३, २५, २७	=(६)
१८	२, ९, १०, ११, १७, २०, २३, २६, ३३, ४२, ४६, ४९, ५५, ५६, ५७, ६२, ६५, ६६, ६८, ७०	=(२०)
		कुल २३५



गीतामें ध्यानविषयक श्लोकोंकी संख्या

अ०	निराकार	निराकार-साकार	साकार
२	१७, २०, २१, २३, २४, २५, २८, २९, ४५, ५५, ६९	६१	०
३	१७, २८, ४३	३०	०
४	२४, २५, २६, २७, ३५	०	६, ७, ८, ९, १०, ११, १३, १४
५	७, ८, ९, १३, १७, १९, २०, २१, २४, २७, २८	२९	०
६	७, ८, १८, २०, २१, २२, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३१, ३२	१०, १३, १४, ३०, ४७	०
७	७, १२, १९	१४, ३०	०
८	८, ९, १०, २०, २१, २२	५, ७, १२, १३, १४	०
९	४, ५, ६, २९	१३, १४, १५, १८, २२, ३४	०
१०	२०	३, ८, ९, १०, १२, ३९, ४१, ४२	०
११	०	१८, ३७, ३८, ५५	७, १७, ४६
१२	३	६, ७, ८, १४	२
१३	११, १२, १४, १५, १७, २२, २४, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२	१०, १३, १६	०
१४	१९, २३, २७	२६	०
१५	५, १५, १७, १९	४	०
१६	१	०	०
१७	०	०	०
१८	२०, ४६, ५४, ५५, ६१, ६२	५७, ६५, ६६	७७

गीतामें विभिन्न वक्ताओंद्वारा कथित श्लोकोंकी संख्या

अध्याय	धृतराष्ट्र	सञ्जय	अर्जुन	श्रीभगवान्	पूर्ण-संख्या
१	१	२५	२१	×	४७
२		३	६	६३	७२
३			३	४०	४३
४			१	४१	४२
५			१	२८	२९
६			५	४२	४७
७			×	३०	३०
८			२	२६	२८
९			×	३४	३४
१०			७	३५	४२
११		८	३३	१४	५५
१२			१	१९	२०
१३			×	३४	३४
१४			१	२६	२७
१५			×	२०	२०
१६			×	२४	२४
१७			१	२७	२८
१८		५	२	७१	७८
	१	४१	८४	५७४	=७००

गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण शब्द (पद) कुल ८९८२ हैं तथा पुष्पिकाके* २३४ और 'उवाच' आदिके ११८ पद जोड़कर कुल पद ९३३४ हैं।

गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षर कुल २३०६६ हैं तथा पुष्पिकाके ८७३ और 'उवाच' के ३८३ एवं 'अथ श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमोऽध्यायः' आदिके १३५ अक्षर जोड़कर कुल अक्षर २४४५७ हैं।

गीतामें मूल श्लोक ७०० हैं, उनके अक्षर इस प्रकार हैं—

	अक्षर
अनुष्टुप् छन्दके ६४४ श्लोक ३२ अक्षरके =	२०६०८
ग्यारहवें अध्यायका पहला १ श्लोक ३३ अक्षरका =	३३
अनुष्टुप् ६४५ श्लोकोंके अक्षर =	२०६४१
त्रिष्टुप् छन्दके बड़े ५१ श्लोक ४४ अक्षरके =	२२४४
दूसरे अध्यायका छठा १ श्लोक ४६ अक्षरका =	४६
दूसरे अध्यायका उन्तीसवाँ, आठवें अध्यायका दसवाँ, पंद्रहवें अध्यायका तीसरा } ३ श्लोक ४५ अक्षरके =	१३५
त्रिष्टुप् ५५ श्लोकोंके अक्षर =	२४२५
गीताके ७०० श्लोकोंके कुल अक्षर =	२३०६६



* प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर दी गयी 'ॐ तत्सदिति ......' इत्यादि पङ्क्तिको 'पुष्पिका' कहते हैं।

गीताके छन्दोंका विवरण



छन्दोंके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें—

वर्णोच्चारणमात्रके दो भेद होते हैं—लघु और गुरु। लिखनेमें लघुका चिह्न यों (।) और गुरुका चिह्न यों (ऽ) होता है।

ग्रन्थ जितने भी होते हैं, वे गद्यात्मक, पद्यात्मक या उभयात्मक (गद्य-पद्य-मिश्रित) होते हैं।

पद्यका नाम छन्द है। प्रत्येक छन्दके प्रायः चार चरण होते हैं। चरणको पाद भी कहते हैं। छन्दके तीन प्रकार हैं—गण-छन्द, अक्षर-छन्द और मात्रा-छन्द। इनमें मात्रा-छन्द गीतामें नहीं है। इसलिये उसपर यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

गण-छन्द एक अक्षरसे छब्बीस अक्षरोंतकके होते हैं, जिनके छब्बीस पृथक्-पृथक् नाम हैं।

तीन अक्षरोंके समूहको गण कहते हैं। आदि, मध्य और अन्तके अक्षरोंके गुरु-लघुके विचारसे गणोंके आठ भेद हैं। उनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम् ।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् ॥

आदि मध्य अरु अन्त गुरु
भ-ज-स य-र-त लघु जान ।
मगण सर्व गुरु लघु नगण
इहि विधि गण अठ मान ॥

संख्या	गण-नाम	चिह्न	लक्षण
१	भगण	SII	पहला अक्षर गुरु, शेष दोनो लघु ।
२	जगण	ISI	दूसरा अक्षर गुरु, शेष दोनो लघु ।
३	सगण	IIS	तीसरा अक्षर गुरु, शेष दोनो लघु ।
४	यगण	ISS	पहला अक्षर लघु, शेष दोनो गुरु ।
५	रगण	SIS	दूसरा अक्षर लघु, शेष दोनो गुरु ।
६	तगण	SSI	तीसरा अक्षर लघु, शेष दोनो गुरु ।
७	मगण	SSS	तीनो अक्षर गुरु ।
८	नगण	III	तीनों अक्षर लघु ।

किस छन्दके कितने भेद हो सकते हैं, इसका ज्ञान करानेवाले प्रत्यय या प्रणालीको प्रस्तार कहते हैं । अर्थात् इन गणोके क्रमसे लिखनेके प्रकारको ही 'प्रस्तार' कहते है ।

एक अक्षरके छन्दके प्रस्तारके दो भेद, दो अक्षरके चार भेद और तीन अक्षरके प्रस्तारके आठ भेद होते हैं । इसी प्रकार संख्या बढती जाती है । अर्थात् एक अक्षर बढनेसे

उसकी पिछली संख्यासे उसके दुगुने भेद हो जाते हैं। इस प्रकार एकसे छब्बीसतकके अक्षरोंके करोड़ो भेद हो जाते हैं।

प्रस्तार लिखनेकी कई विधियाँ हैं। उनमें मुख्य विधि यह है—जितने अक्षरोंका प्रस्तार लिखना हो, उनको पहली पंक्तिमें गुरु रूपसे लिखें। दूसरी पंक्तिमें ऊपरके पहले अक्षर गुरुके नीचे लघु लिखे और दायीं ओर ऊपरके अनुसार ज्यों-का-त्यों लिखें। तीसरी पंक्तिमें दूसरी पंक्तिके पहले गुरुके नीचे लघु, दायीं ओर ऊपरके अनुसार लिखे और बायीं ओर बची हुई जगहमें जो अक्षर लिखे उन्हें गुरु रूपसे लिखे। इसी क्रमसे लिखते-लिखते जब सब लघु अक्षर आ जायेंगे तब प्रस्तार पूरा हो जायगा। उदाहरणके लिये—यदि तीन अक्षरोंका प्रस्तार लिखना है तो उसके आठ भेद होगे, उसे इस प्रकार लिखा जायगा—

(१)	ऽ ऽ ऽ
(२)	। ऽ ऽ
(३)	ऽ । ऽ
(४)	। । ऽ
(५)	ऽ ऽ ।
(६)	। ऽ ।
(७)	ऽ । ।
(८)	। । ।

इस प्रकार इन गणोंके अनुसार छन्दोंके भेद होते हैं। यह गण-छन्द लिखनेका प्रकार है।

छन्दोंके और तीन भेद होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। जिस श्लोकमें चारों चरणोंमें छन्दके लक्षण एक-से हों उसे सम, जिसमें पहला और तीसरा चरण एक तरहके और दूसरा और चौथा चरण एक तरहके हों उसे अर्द्धसम और जिसमें चारों ही चरणोंके लक्षण पृथक्-पृथक् हों उसे विषम कहते हैं।

ये सब छन्द वैदिक और लौकिक भेदसे दो तरहके होते हैं।

गीतामें प्रयुक्त हुए छन्दोंपर विचार

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यात्मक ग्रन्थ है, भगवद्वाणी होनेसे वेदस्वरूप है।* इसमें वैदिक छन्दके नियम ही लागू होते हैं। इस दृष्टिसे कुछ भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है—

---

* 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छा० उ० ७।१।२)—इस उपनिषद्वाक्यके अनुसार यद्यपि महाभारत पञ्चम वेद है, अतः गीता वेदस्वरूप है, तथापि महाभारतके पढ़ने-सुननेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। कोई कैसा भी समुदाय अथवा जातिका क्यों न हो, वह महाभारतका अध्ययन करके उसमें आये हुए उत्तमोत्तम उपदेशोंको यथाधिकार आचरणमें लाकर अपना कल्याण कर सकता है। क्योंकि महाभारतकी रचना करनेमें श्रीवेदव्यासजीका प्रधान उद्देश्य यही था कि स्त्रियाँ, शूद्र और पतित आदि भी, जिन्हें शास्त्र वेद पढ़नेकी आज्ञा नहीं देते, वेदोंके महत्त्वपूर्ण ज्ञानसे वञ्चित न रह जायँ। वह ज्ञान भगवान्‌के द्वारा गीतामें साररूपसे वर्णित है तथा गीतामें स्वयं भगवान्‌ने स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि सभीको अपनी शरणागतिसे परमगतिका अधिकारी बताया है (९।३२) एवं गीताध्ययनमें भी सभीका अधिकार माना है (१८।६७—७१)।

सब आर्प हैं। तथापि यहाँ लौकिक दृष्टिसे भी विचार किया जा रहा है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, गीतामें गण-छन्द और अक्षर-छन्द—दो ही प्रकारके छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

एक अक्षरसे छब्बीस अक्षरोतकके छन्दोके २६ नाम हैं। उनमें गीतामें केवल चार छन्द प्रयुक्त हुए हैं—आठ अक्षरोवाले अनुष्टुप् छन्द, नौ अक्षरोवाले बृहती छन्द, ग्यारह अक्षरोवाले त्रिष्टुप् छन्द और बारह अक्षरोवाले जगती छन्द। इनमें नौ अक्षरोंवाले छन्दका तो केवल एक चरण है—ग्यारहवें अध्यायके पहले श्लोकका पहला चरण। और बारह अक्षरोवाले छन्दके पाँच चरण हैं—दूसरे अध्यायके छठे श्लोकका पहला और दूसरा चरण, उन्तीसवें श्लोकका दूसरा चरण, आठवें अध्यायके दसवे श्लोकका चौथा चरण और पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकका पहला चरण। परंतु वैदिक दृष्टिसे छन्दोमें यह नियम है, 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ' (पिङ्गल-सूत्र ३ । ५९) अर्थात् एक अक्षर न्यून होनेसे उसकी निचृद् और एक अक्षर अधिक होनेसे भुरिक् संज्ञा होकर छन्दकी पूर्व संज्ञा ही रह जाती है। इसके अनुसार नौ अक्षरोवाले बृहती छन्दका एक चरण, आठ अक्षरोवाले अनुष्टुप्में और बारह अक्षरोवाले जगती छन्दके पाँच चरण ग्यारह अक्षरोवाले त्रिष्टुप् छन्दमे सम्मिलित हो जाते हैं। अतः वैदिक दृष्टिसे गीतामें अनुष्टुप् और त्रिष्टुप्—दो प्रकारके ही छन्द हैं। सम्पूर्ण गीतामें ७०० श्लोक हैं, उनमें ६४५ श्लोक अनुष्टुप् और ५५ श्लोक त्रिष्टुप् छन्दके हैं।

अनुष्टुप् छन्द

अनुष्टुप् छन्दके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक ३२ अक्षरोंका होता है।

अनुष्टुप् छन्दके दो भेद होते है—अनुष्टुप् गण-छन्द और अनुष्टुप् अक्षर-छन्द। अनुष्टुप् गण-छन्दके प्रस्तार-भेदसे २५६ भेद होते हैं और अनुष्टुप् अक्षर-छन्दके लाखों भेद होते हैं। गीतामें अनुष्टुप् गण-छन्द नहीं है।

ऊपर छन्दोंके जो सम, अर्द्धसम और विषम—तीन भेद बताये गये हैं, उनमें गीताके अनुष्टुप् छन्दोंमें अर्द्धसम प्रयुक्त हुए हैं।

छन्दःशास्त्रमें इस अर्द्धसम अनुष्टुप् छन्दके पहले और आठवें अक्षरोंपर विचार नहीं है, वे गुरु हों या लघु—दोनों ही मान्य हैं। चारों चरणोंमें पहले अक्षरके बाद (दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरका गण) 'सगण और नगण' नहीं होना चाहिये—'न प्रथमात्स्नौ' (पिङ्गल-सूत्र ५। ११)। और दूसरे तथा चौथे चरणोंमें पहले अक्षरके बाद (दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरका गण) 'रगण' भी नहीं होना चाहिये—'द्वितीयचतुर्थयो रश्च' (पिङ्गल-सूत्र ५। १२)।

यदि चारों चरणोंमें चौथे अक्षरके बाद 'यगण' होगा तो उस श्लोकके छन्दका नाम 'अनुष्टुब्वक्त्र' होगा—'यश्चतुर्थात्' (पिङ्गल-सूत्र ५। १४) 'पादस्यानुष्टुब्वक्त्रम्' (पिङ्गल-सूत्र ५। १०)।

पहले और तीसरे चरणोमें चौथे अक्षरके बाद 'यगण' तथा दूसरे और चौथे चरणोंमें (चौथे अक्षरके बाद) 'जगण' होगा तो उसकी 'पथ्यावक्त्र' संज्ञा होगी—'पथ्या युजो ज्' (पिङ्गल-सूत्र ५ । १५) 'युजोर्जेन सरिद्भर्तु पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' (वृत्तरत्नाकर २ । २२) । यह अर्द्धसम छन्द है । श्रीकालिदासने इसी बातको इस प्रकार कहा है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं
सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं
सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

श्लोकके सभी चरणोमे छठा अक्षर गुरु और पाँचवाँ लघु होता है । सातवाँ अक्षर दूसरे और चौथे चरणोमे ह्रस्व तथा पहले और तीसरे चरणोमें दीर्घ होता है । चौथे अक्षरके बाद पहले और तीसरे चरणोमे 'यगण' तथा दूसरे और चौथे चरणोमें 'जगण' होना चाहिये, यही बात इस श्लोकसे कही गयी है ।

गीतामे इन अनुष्टुप् छन्दके श्लोकोंके दूसरे और चौथे चरणोंमें चौथे अक्षरके बाद सब जगह ही 'जगण' प्रयुक्त हुए हैं, परंतु पहले और तीसरे चरणोमें कई श्लोकोमें 'यगण'की जगह दूसरे गण भी आ गये हैं, उनके लिये यह नियम है कि इस प्रकार जो गण प्रयुक्त होगा उसके नामके प्रारम्भके

अक्षरके साथ 'विपुला' संज्ञा मानी जायगी। यदि केवल पहले चरणमें या केवल तीसरे चरणमें अथवा पहले और तीसरे दोनों चरणोमें ही 'यगग'के अतिरिक्त दूसरा गग होगा तो वह श्लोक उसी गणके नामसे युक्त विपुलान्त संज्ञावाले छन्दका होगा। गीतामें ऐसे न-विपुला, भ-विपुला, र-विपुला, म-विपुला और स-विपुला छन्दोका प्रयोग हुआ है। इसके अन्तर्गत एक नियम और है—यदि केवल पहले या तीसरे किसी एक चरणमे 'यगण'के अतिरिक्त दूसरा गण हो तो वह 'व्यक्तिपक्ष-विपुला', दोनों चरणोमें ('यगण'के अतिरिक्त) एक तरहके गण हो तो वह 'जातिपक्ष-विपुला' और दोनों चरगोमें ('यगग'के अनिरिक्त) भिन्न-भिन्न गण हों तो वह 'सकीर्ण-विपुला' छन्द कहा गया है। ये सब पथ्यावक्त्रके ही अवान्तर भेद है।

अनुष्टुप् छन्दके ६४५ श्लोकोमें ५०७ तो ठीक पथ्यावक्त्रके लक्षणोसे युक्त है। इनमें पहले और तीसरे चरणोमें 'यगण' प्रयुक्त हुए हैं, अतः इन्हे 'य-विपुला' भी कह सकते हैं—'य-विपुला यकारोऽब्धेः' (वाग्वल्लभ)। १२७ श्लोकोमें पहले या तीसरे किसी एक चरगमें 'यगग'के अतिरिक्त गग प्रयुक्त हुए है वे 'व्यक्तिपक्ष-विपुला', ३ श्लोकोमें पहले और तीसरे चरणोमें ('यगग'के अतिरिक्त) एक ही प्रकारके अन्य गग प्रयुक्त हुए है वे 'जातिपक्ष-विपुला' और ८ श्लोकोमें पहले और तीसरे चरणोमें ('यगण'के अनिरिक्त) पृथक्-पृथक गग प्रयुक्त हुए हैं वे 'संकीर्ण-विपुला' संज्ञक श्लोक है।

नीचेकी तालिकामें किस श्लोकमें कौन विपुला है, यह अध्याय क्रमसे दिखाया गया है—

‘व्यक्तिपक्ष-विपुला’ संज्ञक १२७ श्लोकोंकी तालिका

[जिनमें पहले या तीसरे किसी एक चरणमें ‘नगण’, ‘भगण’, ‘रगण’, ‘मगण’ और ‘सगण’ प्रयुक्त हुए हैं]

अ०	श्लोक	छन्द-नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
१	५	र-विपुला	—	धृष्टकेतु०
”	९	—	न-विपुला	अन्ये च०
”	२५	न-विपुला	—	भीष्मद्रोण०
”	३३	र-विपुला	—	येषामर्थे०
”	४३	—	र-विपुला	दोषैरेतैः०
२	२	न-विपुला	—	कुतस्त्वा०
”	१२	र-विपुला	—	न त्वेवाहं०
”	२६	र-विपुला	—	अथ चैनं०
”	३१	—	म-विपुला	स्वधर्ममपि०
”	३२	र-विपुला	—	यदृच्छया०
”	३६	भ-विपुला	—	अवाच्य०
”	४६	स-विपुला	—	यावानर्थं०
”	५२	न-विपुला	—	यदा ते०
”	५६	भ-विपुला	—	दुःखेष्वनु०
”	६१	—	र-विपुला	तानि सर्वाणि०
”	६३	—	र-विपुला	क्रोधाद्भवति०
”	६७	न-विपुला	—	इन्द्रियाणां०
”	७१	म-विपुला	—	विहाय कामान्०

अ०	श्लोक	छन्द-नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
३	१	र-विपुला	—	ज्यायसी०
,,	५	न-विपुला	—	न हि कश्चित्०
,,	८	—	भ-विपुला	नियत कुरु०
,,	११	—	र-विपुला	देवान्भाव०
,,	१९	भ-विपुला	—	तस्मादसक्तः०
,,	२१	—	भ-विपुला	यद्यदाचरति०
,,	२६	भ-विपुला	—	न बुद्धिभेद०
,,	३५	भ-विपुला	—	श्रेयान् स्व०
,,	३७	र-विपुला	—	काम एष क्रोध०
४	२	—	न-विपुला	एवं परम्परा०
,,	६	र-विपुला	—	अजोऽपि०
,,	१०	—	न-विपुला	वीतरागभय०
,,	१३	—	न-विपुला	चातुर्वर्ण्यं०
,,	२४	भ-विपुला	—	ब्रह्मार्पणं०
,,	३०	—	भ-विपुला	अपरे नियता०
,,	३१	न-विपुला	—	यज्ञशिष्टामृत०
,,	३८	न-विपुला	—	न हि ज्ञानेन०
,,	४०	—	न-विपुला	अज्ञश्चाश्रद्दधान०
५	१३	न-विपुला	—	सर्वकर्माणि०
,,	२२	—	म-विपुला	ये हि संस्पर्शजा०
,,	२९	न-विपुला	—	भोक्तारं यज्ञ०
६	१	भ-विपुला	—	अनाश्रितः०
,,	१०	न-विपुला	—	योगी युञ्जीत०
,,	११	—	र-विपुला	शुचौ देशे०

अ०	श्लोक	छन्द-नाम पहला चरण	छन्द-नाम तीसरा चरण	श्लोक-प्रतीक
६	१४	न-विपुला	—	प्रशान्तात्मा०
,,	१५	—	न-विपुला	युञ्जन्नेवं०
,,	२५	न-विपुला	—	शनैः शनैः०
,,	२६	भ-विपुला	—	यतो यतो०
,,	२७	—	न-विपुला	प्रशान्तमनसं०
,,	३६	—	न-विपुला	असंयतात्मना०
,,	४२	—	न-विपुला	अथवा योगि०
७	६	—	न-विपुला	एतद्योनीनि०
,,	११	—	म-विपुला	बलं बलवतां०
,,	१४	न-विपुला	—	दैवी ह्येषा०
,,	१७	र-विपुला	—	तेषां ज्ञानी०
,,	१९	—	भ-विपुला	बहूनां जन्मना०
,,	२५	म-विपुला	—	नाहं प्रकाश.०
,,	३०	—	भ-विपुला	साधिभूताधि०
८	२	—	भ-विपुला	अधियज्ञः०
,,	१४	भ-विपुला	—	अनन्यचेता.०
,,	२४	—	म-विपुला	अग्निर्ज्योति०
,,	२७	र-विपुला	—	नैते सृती०
९	२	र-विपुला	—	राजविद्या०
,,	३	भ-विपुला	—	अश्रद्दधानाः०
,,	१०	भ-विपुला	—	मयाऽध्यक्षेण०
,,	१३	—	न-विपुला	महात्मानस्तु०
,,	१७	न-विपुला	—	पिताहमस्य०
,,	२६	—	न-विपुला	पत्रं पुष्पं फलं०

अ०	श्लोक	छन्द-नाम पहला चरण	छन्द-नाम तीसरा चरण	श्लोक-प्रतीक
१०	२	न-विपुला	—	न मे विदुः०
,,	५	—	म-विपुला	अहिंसा समता०
,,	६	र-विपुला	—	महर्षयः०
,,	७	म-विपुला	—	एतां विभूतिं०
,,	८	भ-विपुला	—	अहं सर्वस्य०
,,	२५	न-विपुला	—	महर्षीणां०
,,	२६	—	भ-विपुला	अश्वत्थः सर्व०
,,	३२	—	म-विपुला	सर्गाणामादि०
११	१	भ-विपुला	—	मदनुग्रहाय०
,,	११	न-विपुला	—	दिव्यमाल्याम्बर०
,,	५३	न-विपुला	—	नाहं वेदैर्न०
,,	५५	भ-विपुला	—	मत्कर्मकृन्म०
१२	९	—	भ-विपुला	अथ चित्तं०
,,	१९	—	न-विपुला	तुल्यनिन्दा०
१३	१	म-विपुला	—	इदं शरीरं०
,,	१७	—	र-विपुला	ज्योतिषामपि०
,,	१८	—	म-विपुला	इति क्षेत्रं०
,,	२३	न-विपुला	—	य एवं वेत्ति०
,,	३१	र-विपुला	—	अनादित्वान्नि०
१४	५	न-विपुला	—	सत्त्वं रजस्तम०
,,	६	र-विपुला	—	तत्र सत्त्वं०
,,	१०	र-विपुला	—	रजस्तमश्चा०
,,	१५	—	भ-विपुला	रजसि प्रलय०
,,	१७	—	भ-विपुला	सत्त्वात्सञ्जायते०

अ०	श्लोक	छन्द-नाम पहला चरण	छन्द-नाम तीसरा चरण	श्लोक प्रतीक
१४	१९	म-विपुला	—	नान्य गुणेभ्यः०
१५	९	र-विपुला	—	श्रोत्रं चक्षुः०
”	१८	—	म-विपुला	यस्मात्क्षर०
”	१९	—	न-विपुला	यो मामेव०
”	२०	—	र-विपुला	इति गुह्यतमं०
१६	६	म-विपुला	—	द्वौ भूतसर्गौ०
”	१०	—	म-विपुला	काममाश्रित्य०
”	११	—	न-विपुला	चिन्तामपरि०
”	१३	—	न-विपुला	इदमद्य मया०
”	१९	—	न-विपुला	तानहं द्विषतः०
”	२२	म-विपुला	—	एतैर्विमुक्तः०
१७	१०	न-विपुला	—	यातयाम०
”	११	—	भ-विपुला	अफलाकाङ्क्षि०
”	१२	न-विपुला	—	अभिसन्धाय०
”	१६	म-विपुला	—	मनःप्रसादः०
”	१९	र-विपुला	—	मूढग्राहेणा०
”	२२	म-विपुला	—	अदेशकाले०
”	२५	—	न-विपुला	तदित्यनभि०
”	२६	—	न-विपुला	सद्भावे साधु०
१८	१२	म-विपुला	—	अनिष्टमिष्ट०
”	१३	—	म-विपुला	पञ्चैतानि०
”	२३	न-विपुला	—	नियतं सङ्ग०
”	२६	—	र-विपुला	मुक्तसङ्गः०
”	३२	न-विपुला	—	अधर्मं०

अ०	श्लोक	छन्द-नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
१८	३३	भ-विपुला	—	धृत्या यया०
,,	३६	भ-विपुला	—	सुखं त्विदानीं०
,,	३७	न-विपुला	—	यत्तदग्रे विष०
,,	३८	—	न-विपुला	विषयेन्द्रिय०
,,	४१	न-विपुला	—	ब्राह्मणक्षत्रिय०
,,	४५	न-विपुला	—	स्वे स्वे कर्मण्य०
,,	४६	म-विपुला	—	यतः प्रवृत्तिः०
,,	४७	भ-विपुला	—	श्रेयान् स्व०
,,	५२	म-विपुला	—	विविक्तसेवी०
,,	५६	न-विपुला	—	सर्वकर्माण्यपि०
,,	६४	—	न-विपुला	सर्वगुह्यतमं०
,,	७०	न-विपुला	—	अध्येष्यते०
,,	७५	भ-विपुला	—	व्यासप्रसादात्०
	१२७			

'जातिपक्ष-विपुला' संज्ञक ३ श्लोकोंकी तालिका

[जिनके पहले और तीसरे दोनों चरणोंमें एक ही प्रकारके गण प्रयुक्त हुए हैं]

२	३५	न-विपुला	न-विपुला	भयाद्रणा०
८	३	न-विपुला	न-विपुला	अक्षरं०
१५	७	र-विपुला	र-विपुला	ममैवांशो०
	३			

'संकीर्ण-विपुला' संज्ञक ८ श्लोकोंकी तालिका

[जिनके पहले और तीसरे दोनों चरणोंमें पृथक्-पृथक् गण प्रयुक्त हुए हैं]

अ०	श्लोक	छन्द-नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
२	४३	भ-विपुला	न-विपुला	कामात्मानः०
३	७	न-विपुला	र-विपुला	यस्त्विन्द्रि०
९	१	भ-विपुला	न-विपुला	इदं तु ते०
११	१०	न-विपुला	भ-विपुला	अनेकवक्त्र०
१२	२०	न-विपुला	भ-विपुला	ये तु धर्म्या०
१४	९	भ-विपुला	न-विपुला	सत्त्वं सुखे०
१७	३	म-विपुला	भ-विपुला	सत्त्वानुरूपा०
१८	४९	म-विपुला	भ-विपुला	असक्तबुद्धिः०
	८			

त्रिष्टुप् छन्द

त्रिष्टुप् छन्दके प्रत्येक चरणमें ग्यारह अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक चौवालीस अक्षरोंका होता है । प्रस्तारसे इसके २०४८ प्रकार होते हैं; परंतु इनके सब नाम मिलते नहीं हैं । छन्द-ग्रन्थ 'वाग्वल्लभ'में इन प्रकारोंके केवल ११२ नाम ही दिये गये हैं । गीतामें इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शालिनी, ईहामृगी, प्राकारबन्ध, वातोर्मी, संश्रयश्री और गुणाङ्गी छन्द प्रयुक्त हुए हैं । बारह अक्षरोंवाले जगती छन्दको त्रिष्टुप् छन्दमें ही माना गया

है, उसका भी एक चरण वंशस्थ छन्दका प्रयुक्त हुआ है। इनके स्वरूप तथा लक्षण इस प्रकार हैं—

प्रस्तार नं०	छन्द-नाम	रूप	लक्षण	प्रमाण
३५७	इन्द्रवज्रा	SSI SSI ISI SS	स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः	वृत्तरत्नाकर
३५८	उपेन्द्रवज्रा	ISI SSI ISI SS	उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ	”
२८९	शालिनी	SSSSSI SSI SS	शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः	”
३०९	ईहामृगी	SSI SII SSI SS	ईहामृगी किल चेत्तो मतौ गौ	वाग्वल्लभ
२९३	प्राकारबन्ध	SSI SSI SSI SS	प्राकार बन्धस्तकारत्रयं गौ	”
३०५	वातोर्मी	SSS SII SSI SS	वातोर्मीयं कथिता म्भौ तगौ गः	वृत्तरत्नाकर
१३१७	सश्रयश्री	SSI SSI SSI SI	ताः स्युस्त्रयः सश्रयश्रीर्गलौ च	वाग्वल्लभ
३५३	गुणाङ्गी	SSS SSI ISI SS	म्तौ ज्गौ गः स्यादब्धिनगर्गुणाङ्गी	काव्यमाला
१३८२	वंशस्थ	ISI SSI ISI SIS	जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ	वृत्तरत्नाकर

वैदिक और लौकिक—दोनों दृष्टियोंसे ग्यारह अक्षरोंवाले सभी छन्द त्रिष्टुप् हैं। नाम ज्ञात न होने पर भी हैं तो त्रिष्टुप् ही।

किसी श्लोकमें एक, दो, तीन या चारो चरण पृथक्-पृथक् जातिके छन्दके हों तो वह उपजाति छन्द होता है।

उपजाति छन्द

(१) जिस श्लोकका कोई चरण इन्द्रवज्रा और कोई उपेन्द्र-वज्राके लक्षणोसे युक्त हो, उसे मुख्य उपजाति छन्द कहते हैं। इसके चौदह भेद होते हैं—

चेदिन्द्रवज्राचरणानि यस्यामुपेन्द्रवज्राचरणानि च स्युः।
तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रैर्भेदा भवन्तीह चतुर्दशास्याः॥

(वाग्वल्लभ)

(२) जिस श्लोकका प्रत्येक चरण भिन्न-भिन्न छन्दका हो ऐसे छन्दकी संज्ञा भी उपजाति है—

इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु
स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम।

(वृत्तरत्नाकर ३। ३१)

(३) विषमाक्षरवाले त्रिष्टुप् और जगतीके मिलनेसे उसकी संज्ञा भी उपजाति कही गयी है। प्राचीन आचार्योंने इसे 'गाथा' नामसे कहा है—

'आद्यन्तावुपजातयः' (पिङ्गल-सूत्र ६। २३)

उपर्युक्त सूत्रपर हलायुध-वृत्ति और उसके ऊपर श्रीजीवानन्द विद्यासागरकी टीका सुबोधिनीमे लिखा है—

तत्रोपजातिर्विविधा विदग्धैः
संयोज्यते तु व्यवहारकाले।

इस प्रकार गीतामें त्रिष्टुप् छन्दके ५५ श्लोक हैं। उनमें इन्द्रवज्रा छन्दके ३, उपेन्द्रवज्रा छन्दके ३, इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा-मिश्रित मुख्य उपजातिके १५, पृथक्-पृथक् छन्द-मिश्रित उपजातिके १३ हैं, तथा २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनके ८४ चरणोंमें ५२ के नाम तो ज्ञात हुए हैं, ३२ के ज्ञात नहीं हो सके हैं। ये २१ श्लोक भी उपजातिके ही कहे जा सकते हैं। नीचे तालिकामें इन सब श्लोकोंको दिखाया गया है। जिन चरणोंके छन्दके नाम ज्ञात नहीं हो सके, उनकी प्रस्तार-संख्या तालिकामें लिख दी गयी है। जिन छन्दोविद् महानुभावको इनके नाम ज्ञात हों, वे कृपया हमें सूचित करें, जिससे अगले संस्करणमें उनका नाम दिया जा सके।

इन्द्रवज्रा छन्दके श्लोक—३

अध्याय	श्लोक	श्लोक-प्रतीक
८	२८	वेदेषु यज्ञेषु०
१५	५	निर्मानमोहा०
१५	१५	सर्वस्य चाहं०
	३	

उपेन्द्रवज्रा छन्दके श्लोक—३

अध्याय	श्लोक	श्लोक-प्रतीक
११	२८	यथा नदीनां०
११	२९	यथा प्रदीप्तं०
११	४५	अदृष्टपूर्वं०
	३	

इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा-मिश्रित मुख्य उपजातिके श्लोक—१५

अ०	श्लोक	छ पहला चरण	न्द दूसरा चरण	ना तीसरा चरण	म चौथा चरण	श्लोक-प्रतीक
२	८	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	न हि प्रपश्यामि०
२	२२	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	वासांसि जीर्णानि०
११	१५	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	पश्यामि देवां०
११	१९	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	अनादिमध्यान्त०
११	२४	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	नभःस्पृशं०
११	२५	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	दंष्ट्राकरालानि०
११	३४	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	द्रोण च भीष्मं
११	३६	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	स्थाने हृषीकेश०
११	३८	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	त्वमादिदेवः०
११	३९	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	वायुर्यमोऽग्नि०
११	४०	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	नमः पुरस्ताद्थ०
११	४२	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	यच्चावहासार्थ०
११	४३	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	पितासि लोकस्य०
११	४४	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	तस्मात्प्रणम्य०
११	४७	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	मया प्रसन्नेन०
	१५					

भिन्न-भिन्न छन्द-मिश्रित उपजातिके श्लोक—१३

अ०	श्लोक	पहला चरण	दूसरा चरण	तीसरा चरण	चौथा चरण	श्लोक-प्रतीक
२	५	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	गुरून्हत्वा०
२	७	इन्द्रवज्रा	शालिनी	शालिनी	शालिनी	कार्पण्यदोषो०
९	२०	शालिनी	शालिनी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	त्रैविद्या-मां०
११	१६	उपेन्द्रवज्रा	शालिनी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	अनेकबाहू०
११	२०	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	प्राकारबन्ध	इन्द्रवज्रा	द्यावापृथिव्यो०
११	२२	वातोर्मी	ईहामृगी	इन्द्रवज्रा	शालिनी	रुद्रादित्या०
११	२७	ईहामृगी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	शालिनी	वक्त्राणि ते०
११	३०	ईहामृगी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	लेलिह्यसे०
११	३१	प्राकारबन्ध	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	आख्याहि मे०
११	४८	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	इन्द्रवज्रा	न वेदयज्ञा०
११	४९	इन्द्रवज्रा	शालिनी	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	मा ते व्यथा०
१५	३*	वंशस्थ	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	न रूपमस्येह०
१५	४	उपेन्द्रवज्रा	ईहामृगी	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	ततः पदं०
	१३					

* इस श्लोकमें पहला चरण जगती छन्दका है और शेष तीनों चरण त्रिष्टुप् छन्दके हैं।

अज्ञात नामवाले भिन्न-भिन्न छन्द-मिश्रित उपजातिके २१ श्लोक

अ०	श्लोक	छन्द-नाम				श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	दूसरा चरण	तीसरा चरण	चौथा चरण	
२	६	ज्ञात नहीं प्र.सं. ६१०	ज्ञात नहीं प्र.सं. ६२९	इन्द्रवज्रा	ईहामृगी	न चैतद्विद्मः०
२	२०	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३१०	वातोर्मी	ज्ञात नहीं प्र.सं. २९०	ज्ञात नहीं प्र.सं० २९४	न जायते०
२	२९	इन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र.सं. ७५७	सश्रयश्री	गुणाङ्गी	आश्चर्यवत्पश्यति०
२	७०	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३७३	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	उपेन्द्रवज्रा	आपूर्यमाण०
८	९	ज्ञात नहीं प्र.सं० ३७४	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	कविं पुराण०
८	१०	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	ज्ञात नहीं प्र.सं. २९०	ज्ञात नहीं प्र.सं. ७५८	प्रयाणकाले०
८	११	उपेन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३१०	ज्ञात नहीं प्र.सं. १३१४	प्राकारबन्ध	यदक्षरं वेदविदो०
९	२१	शालिनी	शालिनी	इन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र.सं. २९४	ते तं भुक्त्वा०
११	१७	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३१०	शालिनी	शालिनी	इन्द्रवज्रा	किरीटिनं गदिनं०
११	१८	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३१०	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	त्वमक्षरं परमं०
११	२१	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३०६	गुणाङ्गी	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३३७	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३०६	अमी हि त्वां०
११	२३	इन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३०६	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३१०	गुणाङ्गी	रूपं महत्ते०

अ०	श्लो०	छन्द-नाम				श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	दूसरा चरण	तीसरा चरण	चौथा चरण	
११	२६	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३०६	इन्द्रवज्रा	शालिनी	उपेन्द्रवज्रा	अमी च त्वां०
११	३२	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र. सं. ३०६	प्राकारबन्ध	कालोऽस्मि०
११	३३	इन्द्रवज्रा	शालिनी	ज्ञात नहीं प्र. सं. ३०६	उपेन्द्रवज्रा	तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ०
११	३५	वातोर्मी	ज्ञात नहीं प्र.सं.२९४	ज्ञात नहीं प्र. सं. २९०	ज्ञात नहीं प्र. सं. २९४	एतच्छ्रुत्वा०
११	३७	ईहामृगी	ज्ञात नहीं प्र. सं. २९४	उपेन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र. सं. ३१०	कस्माच्च ते०
११	४१	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	ज्ञात नहीं प्र. सं. ३१०	उपेन्द्रवज्रा	सखेति मत्वा०
११	४६	ज्ञात नहीं प्र.सं. ३१०	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	किरीटिनं गदिनं०
११	५०	प्राकारबन्ध	ज्ञात नहीं प्र. सं. २९०	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इत्यर्जुनं०
१५	२	ज्ञात नहीं प्र. सं. ३०६	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	अधश्चोर्ध्वं०

२१

नोट—

(२ । ६) में पहला और दूसरा चरण जगतीके, शेष त्रिष्टुप्‌के हैं ।

(२ । २९) में दूसरा चरण जगतीका, शेष त्रिष्टुप्‌के हैं ।

(८ । १०) में चौथा चरण जगतीका, शेष त्रिष्टुप्‌के हैं ।



अज्ञात नामवाले छन्द प्रस्तार-संख्यासहित नीचे तालिकामें दिखाये गये हैं—

संख्या	प्रस्तार-संख्या	छन्दका रूप	अध्याय-श्लोक-चरण	
		१२ अक्षरके		
१	६१०	ISS SSI ISS ISS	२।६ पहला चरण	= १
२	६२९	SSI SII ISS ISS	२।६ दूसरा चरण	= १
३	७५७	SSI SII IIS ISS	२।२९ दूसरा चरण	= १
४	७५८	ISI SII IIS ISS	८।१० चौथा चरण	= १
		११ अक्षरके		
५	२९०	ISS SSI SSI SS	२।२० तीसरा चरण, ८।१० तीसरा चरण, ८।११ तीसरा चरण, ११।३५ तीसरा चरण, ११।५० दूसरा चरण	= ५
६	२९४	ISI SSI SSI SS	२।२० चौथा चरण, ९।२१ चौथा चरण, ११।३५ दूसरा चरण, ११।३५ चौथा चरण, ११।३७ दूसरा चरण	= ५
७	३०६	ISS SII SSI SS	११।२१ पहला चरण, ११।२१ चौथा चरण, ११।२३ दूसरा चरण, ११।२६ पहला चरण, ११।३२ तीसरा चरण, ११।३३ तीसरा चरण, १५।२ पहला चरण	= ७

क्र	प्रस्तार-संख्या	छन्दका रूप	अध्याय-श्लोक-चरण	
८	३१०	ISI SII SSI SS	२।२० पहला चरण, ८।११ दूसरा चरण, ११।१७ पहला चरण, ११।१८ पहला चरण, ११।२३ तीसरा चरण, ११।३७ चौथा चरण, ११।४१ तीसरा चरण, ११।४६ पहला चरण	= ८
९	३२७	SSS SIS ISI SS	११।२१ तीसरा चरण	= १
१०	३७३	SSI SII ISI SS	२।७० पहला चरण	= १
११	३७४	ISI SII ISI SS	८।९ पहला चरण	= १
				३२

यहाँ गीतासम्बन्धी छन्दोंका विषय आवश्यकतानुसार संक्षेपमें लिखा गया है। अग्निपुराण, नारदपुराण और अन्यान्य छन्द-ग्रन्थोंमें छन्दोंका विस्तारसे वर्णन है।



गीतामें आर्ष-प्रयोग

छान्दोग्योपनिषद्‌में इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद कहा गया है—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'····'अध्येमि' (७। १। २)। 'भारतं पञ्चमो वेदः'—यह उक्ति भी प्रसिद्ध है। पञ्चम वेद महाभारतके अन्तर्गत गीता स्वतःप्रमाणभूत एक उपनिषद् है। यह बात प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दी गयी पुष्पिकाके 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु'—इन पदोंसे भी स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टिसे गीताका प्रत्येक श्लोक 'वैदिक मन्त्ररूप' है।* वेदमें जो

---

* वैदिक मन्त्ररूप होनेपर भी महाभारत इतिहासके अन्तर्गत होनेके कारण गीताके श्रवण-पठनमें सभीका अधिकार माना गया है। महाभारतमें विष्णुसहस्रनामके माहात्म्यमें श्रीभीष्मजीने कहा है—

य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्।
नाशुभं प्राप्नुयात्किंचित्सोऽमुत्रेह च मानवः॥
वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात्॥

(महा० अनुशासन० १४९। १२२-१२३)

'जो मनुष्य इस विष्णुसहस्रनामका सदा श्रवण करता है और जो प्रतिदिन इसका कीर्तन या पाठ करता है, उसका इस लोकमें तथा परलोकमें कहीं भी कुछ अशुभ नहीं होता। इस विष्णुसहस्रनामका श्रवण, पठन और कीर्तन करनेसे ब्राह्मण वेदान्त-पारगामी हो जाता है,

मन्त्र, वाक्य अथवा छन्द जिस रूपमें उपलब्ध हैं, वे उसी रूपमें शुद्ध हैं; उनपर लौकिक अनुशासन या व्याकरणका नियम नहीं लागू हो सकता। तथापि लौकिक अनुशासनकी दृष्टिसे भी जो प्रयोग साधु नहीं हैं या लोकमें प्रयुक्त नहीं हैं, उनके लिये वैयाकरणोंने 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' (वेदमें जैसा प्रयोग देखा गया है, उसी रूपमें वह विहित है।)—यह सिद्धान्त लागू कर दिया है। इसके अतिरिक्त लौकिक व्याकरणके सारे नियम और विधान वेदमें विकल्पसे होते हैं; जैसा कि 'सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः'—इस परिभाषासे सिद्ध है। इस परिभाषाका मूल 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (१ । ४ । ९)—यह सूत्र है। इस सूत्रमें 'वा' शब्दको पृथक् करके उसे स्वतन्त्र सूत्र मान लेते हैं। इस क्रियाको योग-विभाग कहते है। 'वा'में 'छन्दसि' पदकी अनुवृत्ति होती है। तब उसका अर्थ यों होता है—'सभी विधियाँ वेदमें विकल्पसे होती हैं।' यह विकल्प बाहुलकरूप ही है। 'बहुलं छन्दसि' आदि सारी वैदिक प्रक्रिया इसीका विस्तार है।

व्याकरण-शास्त्रमें बाहुलक चार प्रकारका माना गया है—(१) कहीं प्रवृत्ति, (२) कहीं अप्रवृत्ति, (३) कहीं

क्षत्रिय युद्धमे विजय पाता है, वैश्य धनसे सम्पन्न होता है और शूद्र सुख पाता है।'

जिस प्रकार यहाँ महाभारतान्तर्गत विष्णुसहस्रनामके श्रवण-पठन-कीर्तनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारोंका अधिकार माना गया है, उसी प्रकार महाभारतान्तर्गत गीताके श्रवण-पठन-कीर्तनमे भी सभीका अधिकार समझना चाहिये।

विकल्प अर्थात् प्रवृत्ति भी और अप्रवृत्ति भी एवं (४) कहीं सूत्रोंमें अपेक्षित निमित्तोंसे अन्य, सर्वथा भिन्न, विपरीत तथा उनके अभावमें भी कार्यका पूर्ण हो जाना ।

इसी प्रसङ्गमें 'व्यत्ययो बहुलम्'—इस सूत्रसे छन्दमें विकरणोंका बहुल प्रकारसे व्यत्यय कहा गया है। यहाँ महाभाष्यकार पतञ्जलिका कथन है कि विकरणोंके अतिरिक्त सुप्, तिङ्, उपग्रह (आत्मनेपद-परस्मैपद), लिङ्ग, प्रथम आदि पुरुष, भूतादि कालवाची प्रत्यय, हल्, अच्, उदात्तादि स्वर, कर्त्ता आदि कारक, यङ् अर्थात् 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३ । १ । २२) सूत्रघटक 'यङ्'के यकारसे लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्' (३ । १ । ८६) सूत्रघटक 'अङ्'के ङकारपर्यन्त प्रत्याहार मानकर तन्मध्यवर्ती स्य-तासि-शप्-श्यन् आदि विकरण, च्लिस्थानीय सिजादि आदेश, आम्, यङ्, णिच्, णिङ्, आय्, इयङ्—इनका व्यत्यय भी व्याकरण-शास्त्रकर्ता आचार्य पाणिनिको अभीष्ट है और वह बाहुलकसे सिद्ध है; अतः सूत्रमें 'बहुलम्' पद प्रयुक्त हुआ है ।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'
(७ । १ । ३९)—

इस सूत्रमें वेदमें सुप्के स्थानपर सुलुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, आच् और आल् आदेश होते है ।

उपर्युक्त सिद्धान्तके आधारपर गीतासम्बन्धी आर्ष (वैदिक)-प्रयोगोंकी तालिका नीचे दी जा रही है—

क्रम-संख्या	श्लोकांश	अध्याय-संख्या	श्लोक-संख्या	विवरण
१	न काङ्क्षे विजयं कृष्ण	१	३२	परस्मैपदके स्थानमें आत्मनेपदका प्रयोग आया है।
२	न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११	८	परस्मैपदके स्थानमें आत्मनेपद तथा विकरण-व्यत्यय आया है।
३	नमेरन् महात्मन्	११	३७	परस्मैपदके स्थानमें आत्मनेपदका प्रयोग आया है।
४	विशते तदनन्तरम्	१८	५५	" " "
५	इषुभिः प्रति योत्स्यामि	२	४	आत्मनेपदके स्थानमें परस्मैपदका प्रयोग आया है।
६	यततो ह्यपि	२	६०	" " "
७	यदि ह्यहं न वर्तेयम्	३	२३	" " "
८	नोद्विजेत्	५	२०	" " "
९	वश्यात्मना तु यतता	६	३६	" " "
१०	कश्चिद्यतति	७	३	" " "
११	यततामपि सिद्धानाम्	७	३	" " "
१२	मामाश्रित्य यतन्ति ये	७	२९	" " "
१३	यतन्तश्च दृढव्रताः	९	१४	" " "
१४	प्रतिजानीहि	९	३१	" " "
१५	रमन्ति च	१०	९	" " "
१६	प्रलये न व्यथन्ति च	१४	२	" " "
१७	अवतिष्ठति	१४	२३	" " "
१८	निवर्तन्ति भूयः	१५	४	" " "
१९	यतन्तः-यतन्तः	१५	११	" " "
२०	नैव त्यागफलं लभेत्	१८	८	" " "

क्रम-संख्या	श्लोकांश	अध्याय-संख्या	श्लोक-संख्या	विवरण
२१	अशोच्यानन्वशोचः	२	११	लुङ्के स्थानमें लङ्का प्रयोग आर्ष है।
२२	प्रसविष्यध्वम्	३	१०	लोट्के स्थानमें यह प्रयोग आर्ष है।
२३	सर्वशः पृथिवीपते	१	१८	शास्त्रापेक्षित निमित्तके अभावमें 'शस्'का प्रयोग आर्ष है।
२४	कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः	२	५८	" " "
२५	गुणकर्मविभागशः	४	१३	" " "
२६	श्रुतौ विस्तरशो मया	११	२	" " "
२७	अल्पमेधसाम्	७	२३	शास्त्रापेक्षित निमित्तके अभावमें 'असिच्'का प्रयोग आर्ष है।
२८	हे सखेति	११	४१	यहाँ सधिका प्रयोग आर्ष है।
२९	प्रियायार्हसि	११	४४	" " "
३०	तस्याराधनम्	७	२२	" " " अथवा 'तस्या राधनम्'—यों पाठान्तर है।
३१	जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते	२	५०	सधिका अभाव आर्ष है।
३२	शक्य अह नृलोके	११	४८	" " "
३३	भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन	११	५४	" " "
३४	मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः	१२	८	" " "
३५	निवसिष्यसि	१२	८	'इट्'का आगम आर्ष है।
३६	नमस्कृत्वा	११	३५	'ल्यप्'के स्थानमें 'क्त्वा'का प्रयोग आर्ष है।
३७	एतन्मे संशयम्	६	३९	यहाँ सुप्का लुक् आर्ष है। अथवा नपुंसक लिङ्ग आर्ष है।
३८	महिमानं तवेदम्	११	४१	" " "

श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्



गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ ४ ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ५ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ६ ॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ७ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्याय.

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास-
योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच -

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्य-योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः । ३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥
श्रीभगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥



आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ॥ जय० ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय० ॥
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय० ॥
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा ॥ जय० ॥
आसुरभाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय० ॥
समता, त्याग सिखावनि, हरि मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय० ॥
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय० ॥



श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत श्लोकोंकी अकारादिवर्णानुक्रम-सूची

[अ] ९७

[ग] ६

[च] ५

[ज] १४

[प] ३८

[र] ११

[ल] ४

[व] २०